इत्यलम्

अज्ञेय :

जन्म १९११; प्रकाशित रचनाएँ : भग्नदूत (कविता) १९३३ ई०, विपथगा (कहानियाँ) १९३७, शेखर (उपन्यास) प्रथम भाग १९४१, द्वितीय भाग १९४४, चिन्ता (काव्य) १९४२, परम्परा (कहानियाँ) १९४४, कोठरी की बात (कहानियाँ) १९४५, त्रिशंकु (निबंध) १९४५। (अंग्रेजी) Prison Days and Other Poems १९४६

सम्पादित ग्रन्थ : आधुनिक हिन्दी-साहित्य (निबन्ध-संग्रह) १९४२; तार-सप्तक (कविता-संग्रह) १९४३ ।

इत्यलम्

'अज्ञेय' की संग्रहीत कविताएँ

दिल्ली
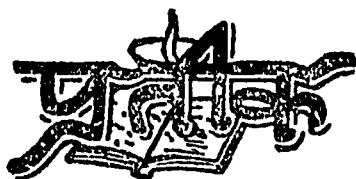
प्रथमावृत्ति १९४८
प्रतीक-प्रकाशन-केन्द्र, पोस्ट बॉक्स ६२, दिल्ली
द्वारा प्रकाशित

मुद्रक - श्रीपतराय, सरस्वती प्रेस, बनारस

Les amants des prostitues
Sont heureux, dispos et repus,
Quant a moi, mes bras sont rompus
Pour avoir etreint des nuees.

Charles Baudelaire, Les Plainte dun Icare.

भाग्यवान् हैं वेश्याओं के प्रेमी
भाग्यवान्, प्रसन्न और तृप्त :
किन्तु मैं—मेरी भुजाएँ टूट गई हैं
क्योंकि मैंने उनकी परिधि में मेघों को बाँध लेना चाहा था !

चार्ल्स बोदेलेयर, इकेरस का विलाप

भूमिका

यह 'अज्ञेय' की समस्त फुटकर कविताओं का संग्रह है ।

प्रथम खण्ड 'भग्नदूत' में उस नाम की पुस्तक की चुनी हुई कविताएँ हैं : लेखक का अनुरोध है कि जो कविताएँ इस चुनाव में नही आईं, उनका अस्तित्व नहीं है, ऐसा मान लिया जाय ।

शेष चारों खण्डों की कुछ कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में जहाँ-तहाँ छपती रही है, किन्तु अधिकाश यहाँ पहली बार छप रही है ।

'चिन्ता' ('विश्व-प्रिया' और 'एकायन') की कविताएँ इस संग्रह में नही ली गई . वे कथासूत्र में गुथी हुई हैं और अलग अस्तित्व रखती हैं ।

'इत्यलम्' शीपक इस बात का द्योतक है कि लेखक आत्माभिव्यंजना के दूसरे माध्यम या साधनों के साथ जूझ रहा है ; किन्तु उसने और कविता न लिखने की शपथ नहीं ले ली है ।

लेखक

सूची

भग्नदूत

पिताजी को

सूची

दृष्टि पथ से तुम जाते हो जब

दृष्टि पथ से तुम जाते हो जब
तव ललाट की कुञ्चित अलकों,
तेरे ढरकीले आञ्चल को,
तेरे पावन चरण-कमल को,
छूकर धन्य भाग अपने को लोग मानते हैं सब के सब।

मैं तो केवल तेरे पथ से
उड़ती रज की ढेरी भर के,
चूम चूम कर सञ्चय करके
रख भर लेता हूँ मरकत-सा मैं अन्तर के कोषों में तब।

पागल झञ्झा के प्रहार-सा,
सान्ध्य रश्मियों के विहार-सा,
सब कुछ ही यह चला जायगा—
इसी धूलि में अन्तिम आश्रय मर कर भी मैं पाऊँगा तब !

दीपावली का एक दीप

दीपक हूँ मस्तक पर मेरे
अग्नि-शिखा है नाच रही—
यही सोच समझा था शायद
आदर मेरा करें सभी !

किन्तु जल गया प्राण-सूत्र जब
स्नेह सभी निःशेष हुआ—
बुझी ज्योति मेरे जीवन की
शव से उठने लगा धुआँ;

नहीं किसी के हृदय-पटल पर
खिंची कृतज्ञता की रेखा,
नहीं किसी की आँखों में
आँसू तक भी मैंने देखा !

मुझे विजित लखकर भी दर्शक
नहीं मौन हो रहते हैं,
तिरस्कार विद्रूप भरे वे
वचन मुझे आ कहते हैं—

'बना रखी थी हमने दीपों
की सुन्दर ज्योतिर्माला—
रे कृतघ्न, तूने बुझ कर क्यों
इसको खण्डित कर डाला ?'

बत्ती और शिखा

मेरे हृदय रक्त की लाली
इसके तन में छाई है,
किन्तु मुझे तज दीप-शिखा ने
पर से प्रीति लगाई है।

इस पर मरते देख पतंगे
नहीं चैन मैं पाती हूँ—
अपना भी परकीय हुआ,
यह देख जली मैं जाती हूँ।

रहस्य

मेरे उर में क्या अन्तर्हित है,
यदि यह जिज्ञासा हो,
दर्पण लेकर क्षण भर उस में
मुख अपना, प्रिय ! तुम लख लो !

यदि उसमें प्रतिबिम्बित हो मुख
सस्मित, सानुराग, अम्लान,
'प्रेम-स्निग्ध है मेरा उर भी,'
तत्क्षण तुम यह लेना जान !

यदि मुख पर मोती अवहेला
या रोती हो विकल व्यथा,
दयाभाव से झुक जाना, प्रिय !
समझ हृदय की करुण कथा !

मेरे उर में क्या अन्तर्हित है,
यदि यह जिज्ञासा हो,
दर्पण लेकर क्षण भर उसमें
मुख अपना, प्रिय ! तुम लख लो !

[इत्यलम् :]

घट

कङ्कड से तू छील छील कर आहत कर दे।
बाँध गले में डोर कूप के जल में धर दे।
गीला कपडा रख मेरा मुख आवृत कर दे।
घर के किसी अँधेरे कोने में तू धर दे।

जैसे चाहे आज मुझे पीड़ित कर ले तू।
जो जी आवे अत्याचार सभी कर ले तू।
कर लूँगा प्रतिशोध कभी पनिहारिन तुझसे,
नही शीघ्र तू द्वन्द्व युद्ध जीतेगी मुझसे!

निज ललाट पर रख मुझको जब जायेगी तू।
देख किसी को प्रान्तर में रुक जायेगी तू।
भाव उदित होंगे जाने क्या तेरे मन में,
सौदामिनि-सी दौड़ जायगी तेरे तन में।

मन्दहसित, सव्रीड झुका लेगी तू माथा,
तब मै कह डालूँगा तेरे उर की गाथा।
छलका जल गीला कर दूँगा तेरा अञ्चल,
अत्याचारों का तुझको दे दूँगा प्रतिफल!

प्रवास में राखी

रक्षा ! हा ! इस बन्धन से ही रक्षित मैं रह पाता !
भूले जीवन की अनभूली स्मृतियों को न जगाता।
बिछुड़ गये जो बन्धु न उनके दर्शन की सुध करता !
दूर हुआ जो देश न उसकी याद कभी मन धरता !

रक्षा ! जाने इससे कितनी जाग उठीं पीडाएँ !
जाने क्या क्या मधुर स्वप्न, जाने क्या प्रेम-कथाएँ !
मातृभूमि-हित उत्सुकता से कीं वे पागल कृतियाँ,
शैशव की, यौवन की—बिखरे जीवन की वे स्मृतियाँ !

बन्दीगृह की प्राचीरें थीं सीमा मेरे नभ की—
उसमें भी आ छाई जीवन-आशाएँ कब कब की !
विश्वक्षेत्र में अभिलाषाएँ मैंने थीं बिखराई—
जाने कैसे रक्षाबन्धन में वे सब घिर आईं !

कठिन हथकड़ी जिस कर को करती थी केवल मण्डित,
वह ही इस कोमल बन्धन से क्यों हो उठता कम्पित ?
जाने क्या क्या रक्तकाण्ड देखे थे जिन आँखों ने—
लख रक्षा को क्यों आँसू भर भर आते हैं उनमें ?

बहिन, कभी इस बन्धन की दृढ़ता को जान सकोगी ?
'तरल तन्तु में बँधे विश्व' का क्या रहस्य समझोगी ?
केवल स्नेह-भाव से भेजी थी रक्षा यह तुमने—
पर निस्सीम शून्य की सत्ता आन जगाई इसने !

असीम प्रणय की तृष्णा।

१

आशाहीना रजनी के अन्तर की चाहें
हिमकर-विरह-जनित वे भीषण आहें
जल जल कर जब बुझ जाती हैं,

जब दिनकर की ज्योत्स्ना से सहसा आलोकित
अभिसारिका उषा के मुख पर पुलकित
व्रीडा की लाली आती है,

भर देती हैं मेरा अन्तर्—
जाने क्या क्या इच्छाएँ—
क्या अस्फुट, अव्यक्त, अनादि,
असीम प्रणय की तृष्णाएँ!

भूल मुझे जाती हैं अपने जीवन की सब कृतियाँ—
कविता, कला, विभा, प्रतिभा—रह जाती फीकी स्मृतियाँ।
अब तक जो कुछ कर पाया हूँ, तृणवत् उड जाता है—
लघुता की संज्ञा का सागर उमड़ उमड़ आता है—

तुम, केवल तुम—दिव्य दीप्ति से,
भर जाते हो शिरा शिरा में,
तुम ही तन में, तुम ही मन में,
व्याप्त हुए ज्यों दामिनि घन में,
तुम, ज्यों धमनी में जीवन-रस—तुम, ज्यों किरणों में आलोक!

२

क्या दूँ, देव ! तुम्हारी इस विपुला विभुता को मैं उपहार ?
मैं, जो क्षुद्रों में भी क्षुद्र, तुम्हें, जो प्रभुता के आगार !

अपनी कविता ? भव की छोटी घटनाएँ जिसका आधार ?
कैसे उसकी परिमा में भर दूँ घहराता पारावार ?

अपने निर्मित चित्र ? वही जो असफलता के शव पर स्तूप ?
तेरे कल्पित छाया-अभिनय की छाया के भी प्रतिरूप !

अपनी जर्जर-वीणा के उलझे से तारों का संगीत ?
जिसमें प्रतिदिन क्षणभंगुर लय-बुद्बुद होते रहे प्रमीत !

३

विश्वदेव ! यदि एक बार,
पाकर तेरी दया अपार,
हो उन्मत्त, भुला संसार—

मैं ही विकलित, कम्पित होकर—
नश्वरता की संज्ञा खोकर—
हँसकर, गाकर, चुप हो, रोकर—
क्षणभर झंकृत हो—विलीन हो—होता तुझसे एकाकार !
बस एक बार !

नही तेरे चरणों में—

कानन का सौन्दर्य्य लूटकर,
सुमन इकट्ठे करके,
धो सुरभित नीहार कणों से—
आँचल में मै भरके,
देव! आऊँगा तेरे द्वार!
किन्तु नहीं तेरे चरणों में दूँगा वह उपहार!

खड़ा रहूँगा तेरे आगे
क्षणभर मै चुपका सा,
लख कर मेरे कुसुम जगेगी—
तेरे उर में आशा,
देव! आऊँगा तेरे द्वार!
किन्तु नही तेरे चरणों में दूँगा कुछ उपहार!

तोड मरोड़ फूल अपने मै
पथ में बिखराऊगा;
पैरों से फिर कुचल उन्हें, मैं
पलट चला जाऊँगा।
देव! आऊँगा तेरे द्वार!
किन्तु नही तेरे चरणों में दूँगा वह उपहार!

क्यों? मैंने भी तेरे हाथों
सदा यही पाया है—
सदा मुझे जो प्रिय था उसको
तू ने ठुकराया है।

देव! आऊँगा तेरे द्वार!
किन्तु नहीं तेरे चरणों में दूँगा वह उपहार!

शायद आँखें भर आएँ—
आँचल से मुख ढक लूँगा;
आँखों में, उर में, क्या है, यह
तुम्हें न दिखने दूँगा!

देव! आऊँगा तेरे द्वार!
किन्तु नहीं तेरे चरणों में दूँगा कुछ उपहार!

कहो कैसे मन को समझा लूँ ?

कहो कैसे मन को समझा लूँ ?
झंझा के द्रुत आघातों-सा,
द्युति के तरलित उत्पातों-सा,
था वह प्रणय तुम्हारा, प्रियतम !
फिर क्यों, फिर क्यों इच्छा होती, वद्ध इसे कर डालूँ ?

सान्ध्य रश्मियों की उच्छ्वासों,
ताराओं की कम्पित साँसों,
सा था मिलन तुम्हारा, प्रियतम !
फिर क्यों, फिर क्यों आँखें कहती, उर में इसे बसा लूँ ?

उल्का-कुल की रज परिमल-सी,
जलप्रपात के उत्थित जल-सी,
थी वह करुणा दृष्टि तुम्हारी—
फिर क्यों, प्रियतम ! अन्तर रोता, युग युग उसको पा लूँ ?
कहो कैसे मन को समझा लूँ ?

तेरा स्थान

ऊषा अनागता पर प्राची
में जगमग तारा एकाकी,
चेत उठा है शिथिल समीरण,
मैं अनिमिष हो देख रहा हूँ
यह रचना भैरव छविमान।

दूर कहीं पर, रेल कूकती
पीपल में परभृता हूकती,
स्वर-तरङ्ग का यह सम्मिश्रण
जाने जगा जगा क्यों जाता
उर में विश्व-स्नेह का ज्ञान!

वस्तुमात्र की सुन्दरता से,
जीवन की कोमल कविता से,
भरा छलकता मेरा अन्तर—
किन्तु विश्व की इस विपुला
आभा में कहीं न तेरा स्थान!

भुला भुला देती यह माया
कहाँ तुझे मैं हूँ खो आया
यद्यपि सोचता बड़े यत्न से,
बिखर बिखर जाते विचार हैं
पाकर यह आकाश महान!

प्रश्नोत्तर

"प्रिय! मेरे चरणों से पागल-सी ये लहरें टकराती हैं;
मेरे सूने उर-निकुञ्ज में क्या कह कह कर जाती हैं?"
"एक बार तेरे सुन्दर चरणों को जब वे छू लेती हैं—
'नही पुनः यह भाग्य मिलेगा' यही सोच वे रो देती हैं।"

"प्रिय! जब मेरे गात्रों में आकर छिप जाता है मलयानिल,
तब किस ध्वनि से मुखरित हो उठता है मेरा विलुलित आँचल?"
"तेरा कुसुम कलेवर पहले ही है उससे अधिक सुवासित—
यही देख वह ठण्ढी आहें भर लेता है होकर लज्जित!"

"प्रिय! जब तुझको मिलने आती हूँ मैं खेतों में से होकर,
तब क्यों सुमन नाच उठते हैं अपने तन की सुध-बुध खोकर?"
"तू इतनी सुन्दर होकर भी बनी हुई है इतनी भोली—
यही देख मन रञ्जित हो तुझसे करते हैं सुमन ठठोली!"

गान

विफले ! विश्वक्षेत्र में खो जा !
पुञ्जीभूते प्रणय वेदने !
आज विस्मृता हो जा !

क्या है प्रेम ? घनीभूता इच्छाओं की ज्वाला है !
क्या है विरह ? प्रेम की बुझती राख भरा प्याला है !
तू ? जाने किस किस जीवन के विच्छेदों की पीडा—
नभ के कोने कोने में छा बीज व्यथा का बो जा !
विफले ! विश्वक्षेत्र में खो जा !

नाम प्रणय—पर अन्तस्तल में फूट जगाने वाली !
एकाकिनि—पर जग भर को उद्भ्रान्त नचाने वाली !
अरी, हृदय की तृषित हूक—उन्मत्त वासना-हाला !
क्यों उठती है सिहर सिहर, आ, मम प्राणों में सोजा !
विफले ! विश्वक्षेत्र में खो जा !
पुञ्जीभूते प्रणय वेदने !
आज विस्मृता हो जा !

गीति—१

माँझी, मत हो अधिक अधीर !

साँझ हुई, सब ओर निशा ने फैलाया निज-चीर,
नभ से अञ्जन बरस रहा है नहीं दीखता तीर ।
किन्तु सुनो ! मुग्धा वधुओं के चरणों का गम्भीर—
किङ्किणि नूपुर शब्द लिये आता है मन्द समीर ।
थोड़ी देर प्रतीक्षा कर ले साहस से हे वीर—
छोड़ उन्हें क्या तटिनी-तट पर चल देगा बेपीर ?

माँझी, मत हो अधिक अधीर !

गीति—२

छोड़ दे माँझी, तू पतवार !

आती है दुकूल से मृदुल किसी के नूपुर की झङ्कार,
काँप काँप कर 'ठहरो, ठहरो!' की करती-सी करुण पुकार।
किन्तु अँधेरे में मलिना-सी देख चिताएँ हैं उस पार,
मानों वन में ताण्डव करती मानव की पशुता साकार।
छोड़ दे माँझी, तू पतवार !

जाना बहुत दूर है, पागल सी घहराती है जलधार,
झूम झूम कर मत्त प्रभञ्जन करता है भय का मल्लार,
पर मीलित कर आँखों को तू तज दे जीवन के आधार—
ऊषा नभ में नाच रही होगी जब पहुँचेंगे उस पार !
छोड़ दे माँझी, तू पतवार !

पूर्व स्मृति

पहले भी मैं इसी राह से
जाकर फिर फिर हूँ आया—
किन्तु झलकती थी इसमें तब
मधु की मन-मोहक माया !

हरित-छटामय-विटप - राजि पर
विलुलित थे पलाश के फूल—
मादकता-सी भरी हुई थी
मलयानिल में परिमल धूल !

पागल-सी भटकी फिरती थी
वन में भौरों की गुञ्जार,
मानों पुष्पों से कहती हो,
'मधुमय है मधु का संसार !'

कुञ्जों में तू छिपती फिरती—
करती सरिता सी कल्लोल,
व्यंग्यभाव से मुझसे कहती
क्या दोगे फूलों का मोल ?'

हँस हँस कर तू थी खिल जाती
सुनकर मेरी करुण पुकार—
'मायाविनि ! मरीचिका है यह,
या छलना, या तेरा प्यार ?"

कई बार मैं इसी राह से
जाकर फिर फिर हूँ आया—
किन्तु झलकती थी इसमें तब
मधु की मन-मोहक माया !

चला जा रहा हूँ इस पथ से—
ले निज मूक व्यथा उद्भ्रान्त
किन्तु आज छाया है इस पर
नीरव - सा नीरस एकान्त !

पुष्पच्छटा-विहीन खडे—
रोते-से लखते हैं तरुवर—
पीडा की उच्छ्वासों-सी
कँपती हैं शाखाएँ सरसर !

बीता मधु, भूला मधु गायन
बिखरी भौंरों की गुञ्जार,
दवा हुआ सूने में फिरता
वन-विहगों का हाहाकार !

अन्तस्तल में मीठा मीठा
गूँज रहा तेरा उपहास—
मानस-मरु में कहाँ छिपाऊँ
मैं अपने प्राणों की प्यास ?

कई बार मैं इसी राह से
जाकर फिर फिर हूँ आया—
किन्तु कहाँ इसमें पाऊँ
वह मधु की मन-मोहक माया !

प्रस्थान

रणक्षेत्र जाने से पहले
सैनिक ! जी भर रो लो !
अन्तर की कातरता को
आँखों के जल से धो लो !

मत ले जाओ साथ जली
पीडा की सूनी साँसे,
मत पैरों का बोझ बढ़ाओ
लेकर दबी उसाँसें !

वहाँ ? वहाँ पर केवल तुमको
लड लड मरना होगा,
गिरते भी औरों के पथ से
हट कर पडना होगा !

नहीं मिलेगा समय वहाँ
यादें जीवित करने को,
नही निमिष भर भी पाओगे
हृदय दीप्त करने को !

एक लपेट—धधकती ज्वाला—
धूम्रकेतु फिर काला;
शोणित, स्वेद, कीच से भर
जायेगा जीवन प्याला !

अभी, अभी पावन बूँदों से
हृदय पटल को धो लो !
तोड़ो सेतुबन्ध आँखों के
सैनिक ! जी भर रो लो !

पराजय गान

विजय ? विजेता ! हा ! मैं तो हूँ
स्वयं पराजित हो आया !
जग में आदर पाने के
अधिकार सभी मैं खो आया।

नहीं शत्रु को शोणित-सिक्त—
धराशायी कर आया हूँ,
नहीं छीन कर संकुल रण में
शत्रु-पताका लाया हूँ।

नहीं सुनाने आया हूँ मैं—
वीरों की वीरत्व कथा,
होकर विजित, विमुख हो रण से
घर आया हूँ यथा तथा।

गया कभी था अखिल विश्व को
जीत स्वयं शासन करने—
गर्वपूर्ण उन्नत ललाट पर
भैरव शोणतिलक धरने,

समरभूमि की लाल धूल में
बिखर गईं वे आशाएँ,
आया हूँ मैं पलट आज, खो
अपनी सब अभिलाषाएँ !

मै हूँ विजित, तिरस्कृत, घायल
अंग हुए जाते है श्रान्त,
लौट किन्तु आया हूँ घर को
जाने किस आशा में भ्रान्त !

केवल कहीं किसी के टूटे
हृदयगेह के कोने में,
सुप्त प्रणय के आँचल में मुख
छिपा दीन हो रोने में—

इतने ही तक सीमित है मम
घायल प्राणों की अब प्यास,
और कही आश्रय पाने की
नही रही अब मुझको आस !

भग्न गेह की टूटी प्राचीरों का
कर फिर से निर्माण,
आत्मभर्त्सना की छाया में
सुला सुला बिखरे अरमान.

अन्धकार में तडप तड़प कर
मुझ को अब सो जाने दो—
विजिगीपा की स्मृति में
विजित व्यथा को आज भुलाने दो !

शिशिर के प्रति

मेरे प्राण सखा हो बस तुम एक, शिशिर !

छाई रहे चतुर्दिक् शीतल छाया,
रोमाञ्चित, ईषत्कम्पित होती रहे क्षीण यह काया;
ऊपर नील गगन में, धवल धवल, कुछ फटे फटे से,
अपने ही आन्तरिक क्षोभ से सकुचे, कटे कटे से,
जीवन में उद्देश्यहीन-सी गति से आगे बढ़ते बादल—
घिरे रहें बादल, पर बरस न पाएँ—
मेरे भी—मैं रहूँ नियन्त्रित, मूक, यदपि आँखें भर आएँ ।
अरे ओ मेरे प्राण सखा, शिशिर !

सूनी सूनी, खड़ी ठिठुरती, पर्णहीन वृक्षों की पाँत,
सिर पर काली शाखें मानों झुलस गए हों गात,
कहीं न फूल न पत्ते, अंकुर तक भी दीख न पाएँ—
नहीं सिद्धि के सुखद फलों की स्मृतियाँ हमें चिढ़ाएँ
सम-दुःखी ओ विधुर शिशिर !

केवल दूर खड़ी, सकुचाती, कुछ कुछ डरी हुई-सी—
आगे बढ़ती, फिरफिर रुक रुक जाती, सहम गई-सी—
वह—भावी वसन्त की आशा-वह, तेरी जीवन आधार !
सखे ! सदा वह दूर रहेगी—निष्कलंक वह आभा,
हम तुम उसको छू न सकेंगे—हम तुम—जिनके
कर कलुषित हैं अन्तर्दाह धुएँ से !
चाहते ही हम रह जाएँगे, नहीं कभी पाएँगे ।

फिर भी—वैसी ही मेरे प्राणों में रहे अनबुझी आशा,
झिपती चाहे जावे, किन्तु न बुझने पावे !
इन प्राणों में; जो होते ही रहे सदा से विफल-प्रयास—
कभी न कुछ भी कर पाए—रोने तक को समझे आयास ।

केवल भरे रहे, अस्फुट आकांक्षाओं से—
भरे रहे—बस ! भरे रहे, हा फूट न पाए !
यह साकांक्ष विफलता ही
रहे धुरा उस मैत्री की
जिस पर घूम रहे हैं प्राण, पाकर साथ तुम्हारा
अरे, समदुःखी, सहभोगी, ओ वञ्चित प्राण सखा,
शिशिर !

अपना गान

इसी में ऊषा का अनुराग,
इसी में भरी दिवस की श्रान्ति,
इसी में रवि की सान्ध्यमयूख
इसी में रजनी की उद्भ्रान्ति,

आर्द्र से तारों की कँपकँपी,
व्योमगगा का शान्त प्रवाह,
इसी में मेघों की गर्जना,
इसी में तरलित विद्युद्दाह,

कुसुम का रस परिपूरित हृदय,
मधुप का लोलुपतामय स्पर्श
इसी में काँटों का काठिन्य,
इसी में स्फुट-कलियों का हर्ष

इसी में बिखरा स्वर्ण पराग,
इसी में सुरभित मन्द बतास,
ऊर्म्मिमाला का पागल नृत्य,
ओस की बूँदों का उल्लास,

विरहिणी चकवी की क्रन्दना,
परभृता - भाषित - कोमल तान,
इसी में अवहेला की टीस,
इसी में प्रिय का प्रिय आह्वान,

भरी आँखों की करुणा भीख,
रिक्त हाथों से अञ्जलि दान,
पूर्ण में सूने की अनुभूति—
शून्य में स्वप्नों का निर्म्माण;

इसी में तेरा क्रूर प्रहार,
इसी में स्नेह सुधा का दान—
कहूँ इस को जीवन इतिहास
या कहूँ केवल अपना गान?

लक्षण

ऑसू से भरने पर आँखें
और चमकने लगती हैं।
सुरभित हो उठता समीर
जब कलियाँ झड़ने लगती हैं।

बढ़ जाता है सीमाओं से
जब तेरा यह मादक हास,
समझ तुरत जाता हूँ मैं—
'अब आया समय विदा का पास।'

अनुरोध

अभी नहीं—क्षण भर रुक जाओ—
महफ़िल के सुनने वालो !
मत वञ्चित हो कोसो, हे
संगीत सुमन चुनने वालो !

नहीं मूक होगी यह वाणी— भंग न होगी तान—
टूट गई यदि वीणा तो भी झनक उठेंगे प्राण !

कवि

एक तीक्ष्ण अपाग से कविता उत्पन्न हो जाती है,
एक चुम्बन में प्रणय फलीभूत हो जाता है,

पर मैं अखिल विश्व का प्रेम खोजता फिरता हूँ,
क्योंकि मैं उसके असंख्य हृदयों का गाथाकार हूँ ।

एक ही टीस से आँसू उमड आता है,
एक झिडकी से हृदय उच्छ्वसित हो उठता है ।

पर मैं अखिल विश्व की पीडा सञ्चित कर रहा हूँ—
क्योंकि मैं जीवन का कवि हूँ ।

वन्दी-स्वप्न

धनवन्तरि

और

अन्य कारा-बन्धुओं को

सूची

बद्ध !

बद्ध !

हृत वह शक्ति किए थी जो लड़ मरने को सन्नद्ध !

हृत, इन लौह-शृङ्खलाओं में फिर कर,
पैरों की उद्धत-गति, आगे ही बढ़ने को तत्पर ;
व्यर्थ हुआ यह आज, निहत्थे हाथों ही से वार—
खंडित जो कर सकता वह जगव्यापी अत्याचार,
निष्फल, इन प्राचीरों की जड़ता के आगे—
आँखों की वह दृप्त पुकार कि मृत भी सहसा जागे !
बद्ध !

ओ जग की निर्बलते ! मैंने कब कुछ माँगा तुझसे !
आज शक्तियाँ मेरी ही विमुख हुई क्यों मुझसे ?
मेरा साहस ही परिभव में है मेरा प्रतिद्वन्द्वी
किस ललकार भरे स्वर में कहता है, 'बन्दी ! बन्दी !'
इस घन निर्जन में एकाकी प्राण सुन रहे स्तब्ध—
हहर-हहरकर फिर-फिर आता एक प्रकंपित शब्द—
बद्ध !

घृणा का गान

सुनो, तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान !

तुम, जो भाई को अछूत कह वस्त्र बचाकर भागे,
तुम, जो बहिनें छोड बिलखती बढ़े जा रहे आगे !
रुककर उत्तर दो, मेरा है अप्रतिहत आह्वान—
सुनो, तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान !

तुम, जो बडे बड़े गद्दों पर ऊँची दूकानों में,
उन्हें कोसते हो जो भूखे मरते हैं खानों में,
तुम, जो रक्त चूस ठठरी को देते हो जलदान—
सुनो, तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान !

तुम, जो महलों में बैठे दे सकते हो आदेश,
'मरने दो बच्चे, ले आओ खींच पकडकर केश !'
नहीं देख सकते निर्धन के घर दो मुट्ठी धान—
सुनो, तुम्हें ललकर रहा हूँ, सुनो घृणा का गान !

तुम, जो पाकर शक्ति कलम में हर लेने की प्राण—
'निश्शक्तों' की हत्या में कर सकते हो अभिमान !
जिनका मत है, 'नीच मरें, दृढ रहे हमारा स्थान—'
सुनो, तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान !

तुम, जो मन्दिर में वेदी पर डाल रहे हो फूल,
और इधर कहते जाते हो, 'जीवन क्या है ? धूल !'
तुम, जिसकी लोलुपता ने ही धूल किया उद्यान—
सुनो, तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान !

तुम, सत्ताधारी, मानवता के शव पर आसीन,
जीवन के चिर-रिपु, विकास के प्रतिद्वन्द्वी प्राचीन,
तुम, श्मशान के देव ! सुनो यह रणभेरी की तान—
आज तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान !

कीर की पुकार

तडपी कीर की पुकार- -
प्राण !

अनुक्रम बार बार
विह्वल नाच उठा यह मेरा छोटा-सा ससार—
प्राण !

कितनी जीवनियों की नीरवता
छिन्न हुई उस स्वर से सहसा
मेरा यह संगीत-अपरिचित
जगत् हुआ ध्वनि से आलोकित
दुर्निवार कर-स्पर्श प्रताडित
स्मृतिवीणा झनझना उठी—वह लोकोत्तर झंकार !
प्राण !
प्राण !

कीर, तुम्हारा रूपरंग है पृथ्वी का आशा-सकेत—
यह तीखा आलाप तुम्हारा क्यों फिर घोर व्यथा का हेतु ?
ओ मधुके मधु-गायक पक्षी ! क्यो व्यापक है तेरा गान ?
वर्षा की गति धारा सार—
शरत्, शिशिर का पीडा-भार—
खर-निदाघ के बरस रहे अगार—

और----और----अतिरिक्त कहीं कुछ जिसे न बाँधे शब्द विधान !
स्मृति की शक्ति---विगत जीवन की ममता—
उस अजस्र से तारतम्य की क्षमता—
उर के भीतर कही जमाकर ;
निज प्रकार के क्षण में अखिल विश्व तड़पाकर ;
कुछ, जो हो जाता निस्पन्द, मूक !
और हम—तद्गत, विरही,, जागरूक !
प्राण !
प्राण ! प्राण !

कीर, अगर कुछ कहने के समर्थ मैं रहता—
विवश प्रेरणा से बस कहता,
चुप हो, चुप हो, बन्द करो यह तान—
इस छोटे जग में न उठाओ अखिल भुवन का गान !
पर कैसे ? जब एक बार तुम बोले—
तत्क्षण लुटा जगत्, अन्तःपट खोले !
एक तथ्य रह गया जगत् में दुर्निवार—
विह्वल नाच उठा यह मेरा छोटा-सा संसार---
दुस्सह, अनुक्रम बार बार
तड़पी कीर की पुकार—
प्राण !
प्राण ! प्राण ! प्राण !

बन्दी और विश्व

मैं तेरा कवि ! ओ तट-परिमित अछल-वीचि-विलास !
प्राणों में कुछ है अबाध-तनु को बाँधे हैं पाश !

मैं तेरा कवि ! ओ सन्ध्या की तम-घिरती द्युति कोर !
मेरे दुर्बल प्राण-तन्तु को व्यथा रही झकझोर !

मैं तेरा कवि ! ओ निशि-विष-प्याले के छलके रिक्त !
परवशता के दाह-नीर से मेरा मन अभिषिक्त !

मैं तेरा कवि ! ओ प्रातः तारे के नेत्र, हताश
मेरा भी तो हृत वैभव से पूर्ण सकल आकाश !

मैं तेरा कवि ! ओ कारा की बद्ध अबाध विकलते !
उर पीड़ानिधि पर आँखों से आँसू नही निकलते !

जीवन-दान

मुक्त बन्दी के प्राण !

पैरों की गति शृङ्खल-बाधित
काया कारा-कलुपाच्छादित
पर किस विकल प्रेरणा-स्पन्दित
उद्धत उसका गान !

अंग-अंग उसका क्षत-विह्वल
हृदय हताशाओं से घायल
किन्तु असह्य रणातुर उसकी
आत्मा का आह्वान !

उसकी भूख-प्यास भी नियमित
उसकी अन्तिम-सम्पति परिहृत,
लज्जित पर बलि-दान देखकर
उसका जीवन-दान !

मुक्त बन्दी के प्राण !

बन्दीगृह की खिड़की

ओ रिपु ! मेरे बन्दीगृह की तू खिड़की मत खोल !

बाहर ! स्वतन्त्रता का स्पन्दन !
मुझे असह उसका आवाहन !
मुझ कँगले को मत दिखला वह दुस्सह स्वप्न अमोल !

कह ले जो कुछ कहना चाहे,
लेजा, यदि कुछ अभी बचा है !
रिपु होकर मेरे आगे वह एक शब्द मत बोल !

बन्दी हूँ मैं, मान गया हूँ,
तेरी सत्ता जान गया हूँ—
अचिर निराशा के प्याले में फिर वह विष मत घोल !

अभी दीप्त मेरी ज्वाला है,
यद्यपि राख ने ढँप डाला है
उसे उड़ाने से पहले तू अपना वैभव तोल !

नहीं ! झूठ थी वह, निर्बलता !
भभक उठी अब वह विह्वलता !
खिड़की ? बन्धन ? सँभल कि तेरा आसन डाँवाडोल !

मुझको बाँधें बेडी-कड़ियाँ ?
गिन तू अपने सुख की घड़ियाँ !
मुझ अबाध की बन्दीगृह की तू खिड़की मत खोल !

विशाल जीवन

है यदि तेरा हृदय विशाल, विराट् प्रणय का इच्छुक क्यों ?
है यदि प्रणय अतल, तो अपनी अतल-पूर्ति का भिक्षुक क्यों ?

दावानल की काल ज्वाल जलती बुझती एकाकी ही—
जीवन ही यदि ऊँचा तो ऊँची समाधि हो रक्षक क्यों !

अखण्ड ज्योति

कर से कर तक, उर से उर तक, बढ़ती जाओ ज्योति हमारी,
छप्पर-तल से महल-शिखर तक चढ़ती जाओ ज्योति हमारी !

पैंतिस कोटि शिखाएँ जलकर कोना-कोना दीपित कर दें—
एक भव्य दीपक-सा भारत जगती को आलोकित कर दे !

हमें दुःख है हमें क्लेश है उसे जला डालेगी ज्वाला—
पद-दलितों के उरसे उठकर सारा नभ छा लेगी ज्वाला !

हमने न्याय नहीं पाया है, हम ज्वाला से न्याय करेंगे—
धर्म हमारा नष्ट हो गया, अग्नि-धर्म हम हृदय धरेंगे !

मिटना स्वयं बनाना जग को, जलना स्वयं जलाना जग को,
शोणित तक से सींच स्वच्छ रखना उस स्वतन्त्रता के मग को !

जग में बहुत मिलेंगे आज़ादी के गाने गानेवाले,
गली-गली में गत गौरव के पोले गाल बजानेवाले—

ले तू इस अभिमानी, दानी भारत के भी फूल निराले,
दीवाने परवाने, हँसकर अपना-आप जलानेवाले !

बीते दिन अब निश्चलता के, शान्त कहाँ, उद्भ्रान्त कहाँ हैं ?
युद्धहेतु कटिबद्ध हुए बस, पैंतिस कोटि कृतान्त यहाँ हैं !

कहीं बच गया हो कोई तो तू उसमें भी स्फूर्ति जगा दे—
विश्व कँपा दे ज्योति ! जगत् में आग लगा दे ! आग लगा दे !

गा दो

कवि, एक बार फिर गा दो !
एक बार इस अन्धकार में फिर आलोक दिखा दो !

अब मीलित हैं मेरी आँखें
पर मै सूर्य देख आया हूँ,
आज पड़ी हैं कड़ियाँ पर मैं
कभी भुवन भर में छाया हूँ;
उस अबाध आतुरता को कवि, फिर तुम छेड़ जगा दो !

आज त्यक्त हूँ, पर दिन था जब
सारा जग अञ्जुली में लेकर
ईश्वर-सा मैंने उसको था
एक स्वप्न पर किया निछावर !
उस उदारता को ज्वाला-सा उर में पुनः जला दो !

बहुत दिनों के बाद आज कवि,
मुझमें फिर कुछ जाग रहा है,
दर्प भरे अप्रतिहत स्वर में
जाने क्या कुछ माँग रहा है,
मेरे प्राणों के तारों को छूकर फिर तड़पा दो !

अभी शक्ति है कवि, इस जग को
धूली सा अञ्जुली में लेकर
बिखरा दूँ, बह जाने दूँ, या
रचूँ किसी नूतन ही लय पर !
तुम मुझको अनथक कृतित्व का भूला राग सुना दो !
कवि एक बार फिर गा दो !

"The Child is the Father of the Man"

तरुण अरुण तो नवल प्रात में
ही दिखलाई पड़ता लाल –
इसीलिए मध्याह्न में अवनि
को झुलसाती उसकी ज्वाल।

मानव किन्तु तरुण शिशु को ही
दबना, झुकना सिखलाकर,
आशा करते हैं कि युवक का
ऊँचा उठा रहेगा भाल!

दिवाकर के प्रति दीप

लो यह मेरी ज्योति, दिवाकर !
उषा वधू के अवगुण्ठन-सा है लालिम गगनाम्बर
मैं मिट्टी हूँ, मुझे बिखरने दो मिट्टी में मिलकर !
लो यह मेरी ज्योति दिवाकर !

मैं पथदर्शक बनकर जागा
करते रजनी को आलोकित—
या मैं अनिमिष रूप ज्वाल-सा
किए रहा शलभों को विकलित,
यह मिथ्या अभिमान नहीं मुझको छू पाया क्षण भर।
लो यह मेरी ज्योति दिवाकर !

छोटा-सा भी मैं हूँ खर-रवि
का प्रतिनिधि काली तमसा में—
रक्षक अथक खड़ा हूँ लेकर
उसकी थाती मंजूषा में ;
नहीं रातभर जगा किया हूँ इसी मोह में पड़कर !
लो यह मेरी ज्योति दिवाकर !

मैं मिट्टी हू, पर यह मेरी
अचिर साधना की ज्वाला है,
मैंने अविरल अपनी आहुति
दे-देकर इसको पाला है;
स्रष्टा हूँ मैं, यदपि सफल मैं हुआ सृजन में जलकर !
यह लो मेरी ज्योति, दिवाकर !

जान किसी अनथक ज्वाला से
दीप्त तुम्हारी भी है छाती,
मै ही तुम को सौंप रहा हू
यह अपने प्राणों की थाती।
मूल्य जानकर इसका रखना उरमें इसे बसाकर !
यह लो मेरी ज्योति, दिवाकर !

ज्योति तुम्हारी अक्षय है पर
जला-जलाकर नही बनी है—
और इधर यह शिखा कम्पमय—
यह मेरी कितनी अपनी है !
मै मिट्टी हूँ, पर तुम होओ धन्य इसे अपनाकर !
यह लो मेरी ज्योति, दिवाकर !

उषा वधू के अवगुण्ठन-सा है लालिम गगनाम्बर—
मै मिट्टी हूँ, मुझे बिखरने दो मिट्टी में मिलकर !
यह लो मेरी ज्योति, दिवाकर !

रक्तस्नात वह मेरा साकी

मैंने कहा, "कण्ठ सूखा है
दे दे मुझे सुरा का प्याला।
मैं भी पीकर आज देख लूँ
यह तेरी अंगूरी हाला।"
—एक हाथ में सुरापात्र ले
एक हाथ से घूँघट थामे
नीरव पग धरती, कम्पित-सी
बढ़ी चली आई मधुबाला।

मैंने कहा, "कण्ठ सूखा है
किन्तु नयन भी तो हैं प्यासे।
एक माँग मधुशाला से है
किन्तु दूसरी मधुबाला से।
ग्रीवा तनिक झुकाकर, भर भर
आँखों से दो जाम उडेलो—
प्यास अगर मिट सकती है तो
उस चितवन की तीव्र सुरा से।"

बाला बोली नहीं, न उसने
अवगुण्ठन से हाथ हटाया—
एक मूक इंगित से केवल
प्याला मेरी ओर बढ़ाया;
मानो कहा, 'यही है मेरी
मीठी कल्पसुरा की गगरी—
इसमें झाँको, देख सकोगे,
मेरी रूप शिखा की छाया !'

मैं बोला, "अच्छा, ऐसे ही
सही, अनोखे मेरे साकी,
मेरी साध यही है रह जाए
अरमान न मेरा बाकी—
प्याले में तेरी आँखों की
मस्त खुमारी भरी हुई है—
एक जाम में मिट जाएगी
प्यास कण्ठ की, प्यास हिया की !"

मैने थाम लिया तब प्याला
आतुरता से हाथ बढाकर
लगा देखने अपनी प्यासी
आँखें उसके बीच गड़ाकर—
पुलक उठा मेरा तन दर्शन
के पहले ही उत्कण्ठा से—
और अधर मधुबाला के भी
खुले तनिक शायद मुसकाकर ?

मैने देखा, एक लजीले
बादल कर-सा मृदु अवगुण्ठन—
उसके पीछे—उफ़ कितनी
अनगिन मधुबालाओं का नर्तन !
मैंने देखा—मैंने देखा—
इन्हीं दग्ध आँखों से देखा !—
इस तीखी उन्माद ज्वाल के
कण-कण में जीवन का स्पन्दन !

मैंने देखा, केवल अपने
रूखे केशों से अवगुण्ठित
वहाँ करोड़ों मधुबालाएँ
खड़ी विवसना और अकुण्ठित
द्राक्षा के कुचले गुच्छे-सी
मर्माहत वे झुकी हुई थीं—
और रक्त उनके हृदयों का
होता एक कुण्ड में सञ्चित !
मैंने देखा, वहाँ करोड़ों
भभकों में फिर उफ़न-उफ़नकर
भस्मीभूत अस्थियों के अनगिन
स्तर की छननी में छनकर
एक मनोमोहक उन्मादक
झिलमिल निर्झर रूप ग्रहण कर
वही रक्त बढ़ता आता था
मेरी मोहन मदिरा बनकर !

मैंने देखा, हुआ नयनमय
उस लालिम मदिरा का कण-कण
मेरे कानों में सहसा भर गया
एक प्रलयंकर गर्जन—

"प्यास कण्ठ की, प्यास हिया की ?
ले लो झाँकी आज प्रिया की—
कल्पसुरा छलकी आती है
इन अनगिन नयनों में इस क्षण !"

मैंने देखा, वहाँ करोड़ों
आँखों में उत्तप्त व्यथा है
मैंने सुना, "कहो कैसी
मधुबाला की मधुमयी कथा है ?"

अट्टहास में उस, विद्रूप
भरा था कितना उग्र, भयानक—
"क्यों ? कड़वी है ? क्या इलाज
इसका, जब साकी ही विधवा है !"

तड़प उठा मैं, चीख़ उठा, अब
मेरा, हा ! निस्तार कहाँ है ?
मेरे हित कलंक की कारिख
का बस अब गुरुभार यहाँ है—

फट जा आज धरित्री ! मेरी
दुस्सह लज्जा आज मिटा दे—
रक्तस्नात वह मेरा साकी
मेरी दुखिया भारत माँ है !

मत माँग

मूढ़ मुझसे बूँद मत माँग !
मैं वारिधि हूँ, अतल रहस्यों का दानी अभिमानी,
पूछ न मेरी इस व्यापकता से चुल्लू भार पानी !
तुझे माँगना ही है तो ये ओछी प्यासें त्याग—
मेरे खारेपन में भी मम-मय होना बस माँग !
मूढ़ मुझसे बूँद मत माँग !

मुझसे स्निग्ध ताप मत माँग !
मैं कृतान्त हूँ, मेरी अगणित जिह्वाओं की ज्वाल,
जग की झूठी मृदुताओं की भस्मकरी विकराल !
आशा की इस मधु विडम्बना से ओ पागल जाग !
मेरा वरद हस्त देता है—आग, आग, बस आग !
मुझसे स्निग्ध ताप मत माँग !

अकाल-घन

घन अकाल में आए
आकर रो गए।

अगिन निराशाओं का जिस पर
पड़ा हुआ था धूसर अम्बर,
उस तेरी स्मृति के आसन को
अमृत-नीर से धो गए।
घन अकाल में आए
आकर रो गए।

जीवन की उलझन का जिसको
मैंने माना था अन्तिम हल
वह भी विधि ने छीना मुझसे
मुझे मृत्यु भी हुई हलाहल!
विस्मृति के अँधियारे में भी
स्मृति के दीप सँजो गए—
घन अकाल में आए
आकर रो गए।

जीवन-पट के पार कहीं पर
काँपी, क्या तेरी भी पलकें?
तेरे गात का भाल चूमने
आई वह पीड़ा की अलकें?
मैं ही डूबा, या हम दोनों
घन-सम घुल घुल खो गए?
घन अकाल में आए
आकर रो गए।

यहाँ निदाघ जला करता है—
भौतिक दूरी अभी बनी है;
किन्तु ग्रीष्म में उमस भरी-सी
हाय निकटता भी कितनी है!
उठे बवण्डर हहराए, फिर
थकी साँस से सो गए!
घन अकाल में आए
आकर रो गए

कसक रही है स्मृति कि अलग तू
पर प्राणों की सूनी तारें,
आग्रह से कंपित होकर भी
बेबस कैसे तुझे पुकारें?
'तू है दूर', यही आकर
वे हत चेतन हो गए!
घन अकाल में आए
आकर रो गए!

चलो, चलें !

चलो, चलें !
जीवनपट की धुँधली लिपि को
व्यथा नीर से धो चलें !

कहाँ फूल-फल-पत्ते-पल्लव ? दावानल में राख हुए सब,
उजडे-से मानस-कानन में नया बीज हम बो चलें !

इच्छा का है इधर रजत-रथ, उधर हमारा कण्टकमय पथ
जीवन की बिखरी विभूति पर दो आँसू हम रो चलें !

विश्वसमर में लुटकर आए, यह ममत्व भी क्यों रह जाए ?
हो ही चुके पराजित तो अब अपनापन भी खो चलें !

आँख दिए की काजल काली, चिरजागर से है अरुणाली,
स्नेही ! हम भी थके हुए हैं चिर निद्रा में सो चलें !

चलो, चलें !
जीवनपट की धुँधली लिपि को
व्यथा नीर से धो चलें !

ध्रुव

मानव की अन्धी आशा
के दीप! अनीन्द्रिय तारे!
आलोक-स्तम्भ-सा स्थावर
तू खड़ा, भवाब्धि किनारे!

किस अकथ कल्प से मानव
तेरी ध्रुवता को गाते
हो प्रार्थी, प्रत्याशी वे
उसको हैं शीश नवाते।

वे भूल भूल जाते हैं
जीवन का जीवन-स्पन्दन :
तुझमें है स्थिर कुछ तो ह—
तेरा यह अस्थिर कम्पन!

विश्वदूत

चुप हो, जग के रौरव नाद !

बुझा प्रात का गायन भैरव,
अभी दूर सन्ध्या का कलरव :
खर-रवि से झुलसा अति नीरव
फैल रहा मध्याह्न-विषाद !
चुप हो, जग के रौरव नाद !

शान्त हुआ मारुत का क्रन्दन,
रुका इन्द्र का चित्रित स्पन्दन,
निश्चल प्रकृति-धमनिका स्पन्दन,
चिर-प्रमीत उसका अवसाद !
चुप हो, जग के रौरव नाद !

विश्व प्रतीक्षा में अति निश्चल,
एकमात्र तू ही है अविरल :
तनिक नियन्त्रित तो कर पागल
अपना निष्फल प्राणोन्माद !
चुप हो जग के रौरव नाद !

नीरवता में भर जाने दे मेरे प्राणों का आह्लाद—
विश्व के लिए लेकर आया हूँ मैं एक नया संवाद !
चुप हो जग के रौरव नाद !

अहङ्कार

बहुत पहले, जब उस निराकार सत्य ने मानव को बनाया, तब उसने अपना सत्य रूप यह सोचकर प्रकट नहीं किया कि मानव अभी बच्चा है।

बहुत बाद, मानव ने उस निराकार सत्य रूप को ठुकराते हुए कहा, "उंह, ये तो बच्चों के उपयुक्त खिलौने हैं!"

सौन्दर्य कहाँ है ?

मैंने एक कँटीली झाड़ी पर लगा हुआ एक फूल देखकर उसे तोड़ लिया, किन्तु इस क्रिया में एक काँटा मेरे हाथ में चुभ गया।

मैंने एक व्यथा भरी सीत्कार-ध्वनि के साथ हाथ खींच लिया, और फूल भूमि पर गिर गया। उसकी पँखुड़ी-पँखुड़ी बिखर गई और वायु में उड़ने लगी।

तभी एक बालक आया और पँखुड़ियाँ बीनकर किलकारता हुआ इधर-उधर दौड़ने लगा।

मैं विस्मय में चुपचाप देखता रहा। मुझे जान पड़ा, जीवन का एक नया रहस्यपूर्ण सत्य मेरे आगे खुल गया है।

बन्धन और स्वातन्त्र्य

तुमने आकर कहा, "वन्दी, तुम जाओ। मैंने द्वार खोल दिए हैं।"

तुमने यह नही पूछा कि "पुरुष ! तुम्हारी अहंता अभी जीती है ?"

मैंने कहा, "हटो, मै जाता हूँ।"

मैंने यहा नही जताया कि मेरी आत्मा का जो मेरापन था वह तुम्हारे पैरों में खो गया है।

तभी, जब मैं आगे बढा, तब मेरे पैरों की शृङ्खला झनझना उठी। हम दोनों ने चौंककर एक दूसरे की ओर देखा।

तुमने कहा, "वन्दी, मै तुम्हें नही छोड सकता।" और बाँहें बढा दी।

मैंने उनमें लिपटकर देखा, मै सदा से स्वतन्त्र हूँ।

उद्धारकों से

तुम कहते हो कि वह राक्षस है।

अपने अन्तस्तल में तुम सभी उस सुनहले परोंवाले जादू के घोड़े के आकांक्षी हो जो राक्षस के किले के भीतर बँधा हुआ है।

तब तुम्हारे यह चिल्लाने का क्या मूल्य है कि राक्षस लोलुप और अनाचारी है?

बन्धुत्व

मुझे उसे मानव कहते संकोच होता है,

मै कभी अपने अन्तरतम में भी उसे मनुष्य समझने का भाव नही पाता,

पर जब वह अपनी कोठरी में बैठा हुआ चक्की पीसता है,

और चक्की की घर-घर ध्वनि के साथ

उसके शब्द-हीन

अर्थ-हीन

प्राण-हीन

गाने का स्वर मै सुनता हूँ,

तब मुझे अनुभव होता है

कि हम भाई हैं,

कि मेरे और उसके संयोग की असंख्य पुनरावृत्ति ही

ससार है ।

दूरवासी मीत मेरे !

दूरवासी मीत मेरे !
पहुँच क्या तुझ तक सकेंगे
काँपते ये गीत मेरे ?

आज कारावास में उर
तड़प उट्ठा है पिघलकर
बद्ध सब अरमान मेरे
फूट निकले हैं उबलकर
याद तेरी को कुचलने
के लिए जो थी बनाई—
वह सुदृढ़ प्राचीर मेरी
हो गई है छार जलकर !
प्यार के प्रिय-भार से हैं सजल नैन विनीत मेरे !
दूरवासी मीत मेरे !

आज मैं कितना विवश हूँ
बद्ध हैं मेरी भुजाएँ—
प्राण पर आराधना की
साध को कैसे भुलाएँ ?

कोठरी में तन झुके, मन
विनत हो तेरे पदों में—
गीत मेरे घेर तुझको
मूक हों, सुध भूल जाएँ!
हाय अब अभिमान के वे दिन गए हैं बीत मेरे!
दूरवासी मीत मेरे!

विपर्यास

तेरी आँखों में पर्वत की
झीलों का निस्सीम प्रसार,
मेरी आँखों बसा नगर की
गली-गली का हाहाकार।

तेरे उर में वन्य-अनिल-सी
स्नेह-अलस, भोली बातें
मेरे उर में जनाकीर्ण मग
की सूनी-सूनी रातें!

मैं वह धनु हूँ—

मैं वह धनु हूँ, जिसे साधने
में प्रत्यञ्चा टूट गई है
स्खलित हुआ है बाण यदपि ध्वनि
दिग्दिगन्त में फूट गई है—

प्रलयम्बर है वह, या है बस
मेरी लज्जा जनक पराजय—
या कि सफलता ! कौन कहेगा
क्या उसमें है विधि का आशय !

क्या मेरे कर्मों का सञ्चय
मुझको चिन्ता छूट गई है—
मैं बस जानूँ मैं धनु हूँ, जिस
की प्रत्यञ्चा टूट गई है !

प्रार्थना

इस विकास गति के आगे है
कोई दुर्दम शक्ति कहीं।
जो जग की स्रष्टा है, मुझको
तो ऐसा विश्वास नहीं।

फिर भी यदि कोई है जिसमें
सुनने की सहृदयता है,
और साथ ही पूरा करने
की कठोर तन्मयता है;

तो मैं आज बिना छोड़े
अपनी सक्षमता का अभिमान
कलाकार से कलाकारवत्
उससे यह माँगूँगा दान

गुरु! मैं तुझसे सीखूँ, पर अक्षुण्ण
रखूँ अपना विश्वास,
बुझकर नहीं, दीप्त रहकर ही
मै आ पाऊँ तेरे पास!

किए चलूँ जो बने, और यदि
सफल कभी भी हो पाऊँ—
मार्ग रोकनेवाले यश-स्तम्भों
को कभी न ललचाऊँ।

'चिरजीवन कैसे पाऊँगा'
इस डर से मैं नहीं डरूँ—
अपने ही निर्मम हाथों मैं
अपना स्मारक ध्वस्त करूँ!

विश्वास

तुम्हारा यह उद्धत विद्रोही
घिरा हुआ है जग से, पर है सदा अलग, निर्मोही !

जीवन सागर हहर-हहरकर,
उसे लीलने आता दुर्धर,
पर वह बढ़ता ही जाएगा लहरों पर आरोही !

जगती का अविरल कोलाहल,
कर न सकेगा उसको बेकल,
ओ आलोक ! नयन उसके अनिमिष लखते तुमको ही !

कैसे खोएगा वह पथ को—
तुम्हीं एक जब पथदर्शक हो,
एक साँकरा मग है और अकेला एक बटोही !
तुम्हारा यह उद्धत विद्रोही !

हिय-हारिल

जिसने
निर्भर से लौटते हुए
पथ की धूल में बैठकर
चाँद देखा था
उसी को

—

सूची

संख्या | | पृष्ठ

रहस्यवाद

मैं भी एक प्रवाह में हूँ—
लेकिन मेरा रहस्यवाद ईश्वर की ओर उन्मुख नही है,
मै उस असीम शक्ति से
सम्बन्ध जोडना चाहता हूँ—
अभिभूत होना चाहता हूँ—
जो मेरे भीतर है।

शक्ति असीम ह,
मै शक्ति का एक अणु हूँ,
मै भी असीम हूँ।
एक असीम बूँद—
असीम समुद्र को अपने भीतर प्रतिबिम्बित करती है,
एक असीम अणु
उस असीम शक्ति को जो उसे प्रेरित करती है
अपने भीतर समा लेना चाहता है,
उसकी रहस्यमयता का परदा खोलकर
उसमें मिल जाना चाहता है-
यही मेरा रहस्यवाद है।

२

लेकिन जान लेना तो अलग हो जाना है,
बिना विभेद के ज्ञान कहाँ है ?
और मिलना है भूल जाना,
जिज्ञासा की झिल्ली को फाड़कर
स्वीकृति के रस में डूब जाना,
जान लेने की इच्छा को भी मिटा देना;
मेरी माँग स्वयं अपना खण्डन है
क्योंकि वह माँग है,
दान नहीं है।

३

असीम का नंगापन ही सीमा है—
रहस्यमयता वह आवरण है जिससे ढककर हम
उसे असीम बना देते हैं।
ज्ञान कहता है कि जो आवृत है, उससे मिलन नहीं
हो सकता,
यद्यपि मिलन अनुभूति का क्षेत्र है,
अनुभूति कहती है कि जो नंगा है वह सुन्दर नहीं है,
यद्यपि सौन्दर्य-बोध ज्ञान का क्षेत्र है।

मैं इस पहेली को हल नहीं कर पाया हूँ
यद्यपि मैं रहस्यवादी हूँ,
क्या इसी लिए मैं केवल एक अणु हूँ
और जो मेरे आगे है वह एक असीम ?

कीर ।

प्रच्छन्न गगन का वक्ष चीर
जा रहा अकेला उड़ा कीर ।
जीवन से मानों कम्प-युक्त—
आरक्त धार का तीक्ष्ण तीर !

प्रकटित कर उर की अमिट साध,
पाकर जीवन की गति अबाध,
कृपि-हरित-रंग में दृश्यमान—
उत्क्षिप्त अवनि का प्राण ह्लाद !

आरक्त कीर का चञ्चु, क्योंकि
आरक्त सदा ही ह्लाद-गान ।
आरक्त कण्ठ रेखा—कि ह्लाद
का दुर्निवार प्राणावसान !

कैसी बिखरी वह मूक पीर !
उल्लसित हुआ कैसा समीर !
प्रच्छन्न गगन का वक्ष चीर—
जा रहा अकेला उड़ा कीर !

वन-पारावत

भग्नावशेष पर मन्दिर के,
नभ-पृष्ठ भूमि पर चित्रित-से,
दो वन-पारावत बैठे हैं।
मधु आगम से उनमें जागी कोई दुर्निवार झङ्कार—
क्योंकि प्रकृति-लय से हैं मिले हुए उनके प्राणों के तार !

कुछ माँग रही इठला-इठला,
निज उच्छल गरिमा से विकला
चञ्चल कपोत की नृत्यकला।
कृत्रिम-निग्रह-पथ के पथिकों को मानों कह जाती हो—
कितनी तुच्छ कामना वह कि दबाने से दब जाती हो !

चञ्चुद्वय की मञ्जुल क्रीडा,
हर चुकी कपोती की व्रीडा।
जागी अपूर्णता की पीडा।
लज्जा तो आकाङ्क्षा को आकर्षक करने ही को है—
और प्रणय का चरम प्रस्फुटन आत्म-व्यञ्जना ही तो है !

खग युगल ! करो सम्पन्न प्रणय,
क्षण के जीवन में हो तन्मय।
हो अखिल अवनि ही निभृत निलय।
हाय तुम्हारी नैसर्गिकता ! मानव नियम निराला है—
वह तो अपने ही से अपना प्रणय छिपानेवाला है !

सूर्य्यास्त

अन्तिम रवि की अन्तिम रक्तिम किरण छू चुकी हिमगिरि-भाल,
अन्तिम रक्त रश्मि के नर्तन को दे चुके चीलतरु ताल।
नीलिम शिला-खण्ड के पीछे दीप्त अरुण की अन्तिम ज्वाल—
जग को दे अन्तिम आश्वासन अस्ताचल की ओर हुए रवि!

खोल हृदय-पट तू दिखला दे अपना उल्लस प्राणोन्माद—
शब्द-शब्द की कम्पन-कम्पन में भर दे अतुलित आह्लाद—
अक्षर-अक्षर हो समर्थ बिखराने को जीवन-अवसाद—
फिर भी वर्णित हुई न होगी इसकी एक किरण भर की छवि!

स्वयं उसी भैरव-सौन्दर्य-नदी में बह जा!
नीरवता द्वारा अपनी असफलता कह जा!
निरुद्वेग, मीठे विषाद में चुप ही रह जा
इस रहस्य अपरिम के आगे आदर से नतमस्तक, रे कवि!

प्रेरणा

जब जब थके हुए हाथों से
छूट लेखिनी गिर जाती है,
'सूखा उर का रस स्रोत' यह
शंका मन में फिर जाती है,

तभी, देवि, क्यों सहसा दीख
झपक, छिप जाता तेरा स्मित मुख—
कविता की सजीव रेखा-सी
मानस-पट पर घिर जाती है?

गोप-गीत

नीला नभ, छितराए बादल
दूर कहीं निर्झर का मर्मर,
चीड़ों की ऊर्ध्वंग भुजाएँ,
भटका-सा पड़कुलिया का स्वर ;

सगी एक पार्वती बाला
आगे पर्वत की पगडण्डी :
इस अबाध में मैं होऊँ बस
बढ़ते ही जाने का बन्दी !

निमीलन

निशा के बाद उषा है, किन्तु—
देख बुझता रवि का आलोक
अकारण होकर जैसे मौन—
ज्योति को देते विदा सशोक ;

तुम्हारी मीलित आँखें देख—
किसी स्वप्निल निद्रा में लीन
हृदय जाने क्यों सहसा हुआ—
आर्द्र कम्पित-सा, कातर, दीन !

राखी

मेरे प्राण स्वयं राखी-से
प्रतिक्षण तुझको रहते घेरे--
पर उनके ही संरक्षक हैं
अथक स्नेह के बन्धन तेरे।

भूल गए हम कौन कौन है
कौन किसे भेजे अब राखी—
अपनी अचिर, अभिन्न एकता
की बस यही भूल हो साखी !

स्मृति

नए बादल में तेरी याद !

आदिम प्रेयसि ! किसी समय
जीवन के उजड़े कानन में—
विस्तृत, आशा-हीन गगन में
किसी अजाने ही क्षण में .

आशा-अभिलाषा की तप्त
उसाँसों से हो पुञ्जीभूत—
तू आई थी अकाल घन-सी
वन वसन्त का जीवन-दूत !

नई बूँदों में तेरा प्यार !

अन्तिम प्रणयिनि ! बूँद बूँद में
सींच रहा हूँ तेरा नाम .
सदा नए हैं मेरे आँसू
उनका पावस है अविराम !

इस अनन्त के अचिर जाल में
अभिनव कौन, कौन प्राचीन—
मैं हूँ, तेरी स्मृति है, और
विरह-रजनी है सीमा-हीन ।

उषा के समय

प्रियतम, पूर्ण हो गया गान !
हम अब इस मृदु अरुणाली में होवें अन्तर्धान !

लहर लहर का कलकल अविरल
काँप काँप अब हुआ अचञ्चल
व्यापक मौन मधुर कितना है गद्गद अपने प्राण।

ये सब चिर वाञ्छित सुख अपने
बाद उषा के होंगे सपने—
फिर भी इस क्षण के गौरव में हम-तुम हों अम्लान।

नभ में राग-भरी रेखाएँ
एक एक कर मिटती जाएँ—
किसी शक्ति के स्वागत को है यह बहुरङ्ग वितान।

मरण ? पिघलकर सजल भक्ति से
मिल जाना उस महच्छक्ति से !
करें मृत्यु का क्यों न उल्लसित होकर हम आह्वान !

राग समाप्त ! चलो अब जागो
निद्रा में नव-चेतन माँगो !
मृत्यु हमारी में होना है उषा का उत्थान !

प्रियतम, पूर्ण हो गया गान !

अन्तिम आलोक

सन्ध्या की किरण-परी ने
उठ अरुण पंख दो खोले—
कम्पित-कर गिरि-शिखरों के
उर छिपे रहस्य टटोले।

देखी उस अरुण किरण ने
कुल पर्वत-माला श्यामल—
बस एक शृङ्ग पर हिम का
था कम्पित कञ्चन झलमल।

प्राणों में हाय पुरानी
क्यों कसक जग उठी सहसा?
वेदना-व्योम से मानों—
खोया-सा स्मृति-घन बरसा।

तेरी उस अन्त-घड़ी में
तेरी आँखों में, जीवन!
ऐसा ही चमक उठा था
तेरा अन्तिम आँसू-कन!

तन्द्रा में अनुभूति

उस तम-घिरते नभ के पट पर
स्वप्न किरण रेखाओं से,
बैठ झरोखे में बुनता था
जाल मिलन के प्रिय ! तेरे ।

मैंने जाना, मेरे पीछे
सहसा तू आ हुई खड़ी—
झनक उठी टूटे-से स्वर से
स्मृति-शृङ्खल की कड़ी-कड़ी ।

बोला हृदय, "लौटकर देखो—
प्रतिमा खो मत जाय कहीं !"
किन्तु कहीं वह स्वप्न न निकले
इससे साहस हुआ नहीं ।

हाय, अवस्था कैसी थी वह !
वज्राहत-सा हृदय रहा !
जाना जब तब अकथ व्यथा से
अङ्ग-अङ्ग था कसक रहा !

यही रहेगा क्या प्रियतम ! अब
सदा के लिए अपना प्यार ?
तन्द्रा में अनुभूति, किन्तु
जाग्रति में केवल पीड़ा-भार !

अतीत की पुकार

जेठ की सन्ध्या के अवसाद—
भरे धूमिल नभ का उर चीर
ज्योति की युगल-किरण-सम काँप
कौंधकर चले गए दो कीर !

भङ्ग कर वह नीरव निर्वेद,
सुन पड़ी मुझे एक ही वार
अचिर को करती-सी ललकार,
विहग-युग की संयुक्त पुकार !

कीर दो किन्तु एक का गान
एक गति, यद्यपि दो थे प्राण
झड़ गए थे आवरण ससीम
शक्तिमय इतना था आह्वान !

गए वे, खड़ा ठगा सा मैं
शून्य में रहा ताकता, दूर
कहीं से पाकर निर्मम चोट
हुआ माया का शीशा चूर ।

प्राण, तुम चली गई, अत्यन्त
कारुणिक, मिथ्या है यह मोह—
देखकर वे दो उड़ते कीर—
फर उठा अन्तस्तल विद्रोह!

व्यक्ति मेरा इह-बन्धन-मुक्त
उड़ चला अप्रतिरुद्ध, अबाध
स्वयं-चालित थे मेरे पंख—
और तुम—तुम थी मेरे साथ!

मुझे बाँधे है यह अस्तित्व
मूक तुम, किस पर्दे के पार
किन्तु खाकर आस्था की चोट—
खुल गए बन्दी-गृह के द्वार!

यही है मिलन-मार्ग का सेतु
हृदय की यह स्मृति-प्यार-पुकार—
इसी में, रहकर भी विच्छिन्न
हमारा है अनन्त अभिसार!

प्राण तुम्हारी पदरज फूली

प्राण तुम्हारी पदरज फूली !
मुझको कञ्चन हुई तुम्हारे चञ्चल चरणों की यह धूली !

आई थीं तो जाना भी था—
फिर भी आओगी, दुख किसका ?
एक बार जब दृष्टिकरों से पदचिह्नों की रेखा छू ली !

वाक्य अर्थ का हो प्रत्याशी,
गीत शब्द का कब अभिलाषी ?
अन्तर में पराग सी छाई है स्मृतियों की आशा धूली ।
प्राण तुम्हारी पदरज फूली !

धूल भरा दिन

पृथ्वी तो पीड़ित थी कब से
आज न जाने नभ क्यों रूठा।
पीलेपन में लुटा, पिटा-सा
मधु-सपना लगता है झूठा।

मारुत में उद्देश्य नहीं है
धूल छानता वह आता है,
हरियाली के प्यासे जग पर
शिथिल पाण्डु-पट छा जाता है।

पर यह धूली मन्त्र-स्पर्श से
मेरे अंग-अंग को छूकर
कौन सँदेसा कह जाती है
उर के सोए तार जगाकर !

२

"मधु आता है ! तुमको नव-
जीवन का दाम चुकाना होगा,
मँजी देह होगी तब ही उस
पर केसरिया बाना होगा !

"परिवर्त्तन के पथ पर जिनको
हँसते चढ़ जाना है सूली,
उन्हें पराग न अङ्गराग, उन
वीरों पर सोहेगी धूली !

"झञ्झा आता है झूल-झूल
दोनों हाथों में भरे धूल,
अंकुर तब ही फूटेंगे जब
पात-पात झर चुकें फूल !"

२

मत्त वैजयन्ती निज गा ले
शुभागते, तू नभ भर छा ले !
मुझको अवसर दे कि शून्यता
मुझको अपनी सखी बना ले !

धूल-धूल जब छा जाएगी
विकल विश्व का कोना कोना
केंचुल-सा तब झर जाएगा
अग-जग का यह रोना-धोना

आज धूल के जग में बन्धन
एक-एक करके टूटेंगे,
निर्मम मैं, निर्मम वसन्त, बस
अविरल भर-भरकर फूटेंगे !

मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!

प्रिय मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!
वह गया जग मुग्ध सरि-सा मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!
प्रिय मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!

तुम विमुख हो, किन्तु मैंने
कब कहा उन्मुख रहो तुम?
साधना है सहसनयना—
बस कहीं सम्मुख रहो तुम!
विमुख-उन्मुख से परे भी
तत्त्व की तल्लीनता है—
लीन हूँ मैं तत्त्वमय हूँ
अचिर चिर-निर्वाण में हूँ!
मै तुम्हारे ध्यान में हूँ!

क्यों डरूँ मै मृत्यु से या
क्षुद्रता के शाप से भी?
क्यों डरूँ मैं क्षीण-पुण्या
अवनि के सन्ताप से भी?

व्यर्थ जिसको मापने में
हैं विधाता की भुजाएँ—
वह पुरुष मैं, मर्त्य हूँ पर
अमरता के मान में हूँ!
मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!

रात आती है, मुझे क्या?
मैं नयन मूँदे हुए हूँ,
आज अपने हृदय में मैं
अंशुमाली को लिए हूँ!
दूर के उस शून्य नभ में
सजल तारे छलछलाएँ—
वज्र हूँ मैं, ज्वलित हूँ,
बेरोक हूँ, प्रस्थान में हूँ!
मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!

मूक संसृति आज है पर
गूँजते हैं कान मेरे—
बुझ गया आलोक जग में
धधकते हैं प्राण मेरे—
मौन या एकान्त या
विच्छेद क्यों मुझको सताए?
विश्व झंकृत हो उठे, मैं
प्यार के उस गान में हूँ!
मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!

जगत है सापेक्ष, यों है
कलुष तो सौन्दर्य भी है—
हैं कठिनताएँ अनेकों—
अन्त में सौकर्य भी है।
किन्तु क्यों विचलित करे
मुझको चिरन्तन की कमी यह
एक है अद्वैत जिस स्थल
आज मैं उस स्थान में हूँ!
मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!

वेदना अस्तित्व की,
अवसान की दुर्भावनाएँ—
भव-मरण, उत्थान-अवनति,
दुःख सुख की प्रक्रियाएँ—
आज सब संघर्ष मेरे
पा गए सहसा समन्वय
आज अनिमिष देख तुमको
लीन मै चिर ज्ञान मे हूँ!
मै तुम्हारे ध्यान में हूँ!

बह गया जग मुग्ध सरि-सा मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ—
प्रिय मै तुम्हारे ध्यान में हूँ!

विधाता वाम होता है

कर चुका था जब विधाता
प्यार के हित सौध स्थापित
विरह की विद्युन्मयी प्रतिमा
वहाँ कर दी प्रतिष्ठित !

बुद्धि से तो क्षुद्र मानव
भी चलाता काम अपने—

वामता से हीन विधि की
शक्ति क्या होती प्रमाणित !

भर दिया रस प्रथम उसमें
कर दिया फिर प्यार वर्जित—
तब बने अन्धे पतंगे,
हो चुका जब दीप निर्मित !

पत्थरों के बुत हुए
निष्प्राण स्थापित मन्दिरों में

और उनको पूजने को
हाथ मृदु अनुराग-रंजित !

मोह में आदिम पुरुष ने
ज्ञान का फल तोड़ खाया—
इसलिए उसने प्रिया सह
चिरन्तन निर्वास पाया ,

कौन पूछे, उन अभागों को
किया पथभ्रष्ट जिसने—
शत्रु जग के उस चिरन्तन
साँप को किसने बनाया ?

खेलती विधि मानवों से ?
काश हम भी खेल सकते—
भाग्य के हमले अनोखे
हम हँसी से झेल सकते !
वह हमें शतरंज के
प्यादों सरीखा है हटाता—
काश हममें शक्ति होती
भाग्य को हम ठेल सकते !

तर्क की सामर्थ्य हममें
है, इसी में भूल जाते—
जानना है चाहते हम
पूछते हैं, छटपटाते !
बुद्धि ही इस मोहतम में
ज्योति अंतिम है हमारी—
किन्तु क्या उसकी परिधि में
नियति को हम बाँध पाते !

नाम तेरा ?

पूछ लूँ मैं नाम तेरा !
मिलन रजनी हो चुकी, विच्छेद का अब है सवेरा !

जा रहा हूँ—और कितनी
देर अब विश्राम होगा—
तू सदय है, किन्तु तुझको
और भी तो काम होगा।
प्यार का साथी बना था
विघ्न बनने तक रुकूँ क्यों ?
समझ ले, स्वीकार कर ले
यह कृतज्ञ प्रणाम मेरा ! पूछ लूँ मैं नाम तेरा !

और होगा मूर्ख जिसने
चिर मिलन की आस पाली—
'पा चुका—अपना चुका' है
कौन ऐसा भाग्यशाली ?
इस तड़ित् को बाँध लेना
दैव से मैंने न माँगा—
मूर्ख इतना हूँ नहीं,
इतना नहीं है भाग्य मेरा ! पूछ लूँ मैं नाम तेरा !

श्वास की हैं दो क्रियाएँ—
खीचना, फिर छोड़ देना,
कब भला सम्भव हमें इस
अनुक्रम को तोड़ देना ?
श्वास की उस सन्धि-सा है
इस जगत् में प्यार का पल
रुक सकेगा कौन कब तक
बीच पथ में डाल डेरा ! पूछ लूँ मैं नाम तेरा !

घूमते हैं गगन में जो
दीखते स्वच्छन्द तारे—
एक आँचल में पड भी
अलग रहते हैं बिचारे—
भूल में पल भर भले
छू जायँ उनकी मेखलाएँ—
दास मै भी हूँ नियति का
क्या भला विश्वास मेरा ! पूछ लूँ मै नाम तेरा !

प्रेम को चिर-ऐक्य कोई
मूढ होगा तो कहेगा—
विरह की पीडा न हो तो
प्रेम क्या जीता रहेगा ?
जो सदा बाँधे रहे वह
एक कारावास होगा—
घर वही है जो थके को
रैन भर का हो बसेरा ! पूछ लूँ मै नाम तेरा !

प्रकृत है अनुभूति, वह
रसदायिनी निष्पाप भी है,
मार्ग उसका रोकना ही
पाप भी है, शाप भी है,
मिलन हो, मुख चूम ले,
आई विदा, लें राह अपनी—
मै न पूछूं, तुम न जानो
क्या रहा अञ्जाम मेरा ! पूछ लूँ मै नाम तेरा !

रात बीती, यद्यपि उसमें
सङ्ग भी था, रङ्ग भी था,
अलस अंगों में हमारे
स्फूर्ति एक अनङ्ग भी था,
तीन की उस एकता में
प्रलय ने ताण्डव किया था—
सृष्टि भर को एक क्षण भर
बाहुओं ने बाँध घेरा ! पूछ लूँ मै नाम तेरा !

सोच मत, "यह प्रश्न क्यों जब
अलग ही हैं मार्ग अपने ?"
सच नहीं होते, इसी से
भूलता है कौन सपने ?
मोह हमको है नहीं पर
द्वार आशा का खुला है—
क्या पता फिर सामना हो
जाय तेरा और मेरा ! पूछ लूँ मै नाम तेरा !

कौन हम-तुम ? दुःख-सुख
होते रहे, होते रहेंगे,
जानकर परिचय परस्पर
हम किसे जाकर कहेंगे ?

पूछता हूँ क्योंकि आगे
जानता हूँ क्या बदा है—

प्रेम जग का, और केवल
नाम तेरा, नाम मेरा !

पूछ लूँ मैं नाम तेरा—
मिलन रजनी हो चुकी, विच्छेद का अब है सवेरा !

प्राप्ति

कल मुझमें उन्माद जगा था आज व्यथा निस्पन्द पड़ी—
कल आरक्त लता फूली थी पत्ती-पत्ती आज झड़ी।
कल दुर्दम्य भूख से तुझको माँग रहे थे मेरे प्राण—
आज आप्त तू, दात्री मेरे आगे दत्ता बनी खड़ी!

अपना भूत रौंद पैरों से, बन विकास की विवश पुकार—
अपनों को ठुकराकर, मात्र पुरुष आया था तेरे द्वार।
तू भी उतनी ही असहाया, उसी प्रेरणा से आक्रान्त—
तुझमें भी तो जगा हुआ था वह ज्वालामय हाहाकार।

वह कल था, जब आगे था भावी, प्राणों मे थी ज्वाला—
आज पड़ा है उसके फूलों पर तम का पट, घन-काला।
वह यौवन था, जिसके मद मे दोनों ने उन्मद होकर—
इच्छा के झिलमिल प्याले में अनुभव हालाहल ढाला!

अमर प्रेम है, कहते हैं, तब यह उत्थान पतन कैसा?
स्थिर है उसकी लौ, तब यह चिर अस्थिर पागलपन कैसा?
वह है यज्ञ जो कि श्वासों की अविरल आहुतियाँ पाकर
जला निरन्तर करता है, तब यह बुझने का क्षण कैसा?

सोचा था, जग के सम्मुख आदर्श नया हम लाते हैं—
नहीं जानता था कि प्यार में जग ही को दुहराते हैं।
जग है, हम हैं, होंगे भी, पर बना रहा कब किसका प्यार '
केवल इस उलझन के बन्धन में बँध भर हम जाते हैं!

कल ज्वाला थी वहाँ आज यह राख ढँपी चिनगारी है,
कल देने की स्वेच्छा थी अब लेने की लाचारी है।
स्वतन्त्रता में कसक नही थी, बन्धन में उन्माद नही—
रो-रो जिए, आज आई हँस-हँस मरने की बारी है!

'कल था, आज हुआ है, कल फिर होगा', हैं शब्दों के जाल—
मिथ्या जिनकी मोहकता में हमको बाँध रहा है काल।
फिर भी 'सत्य माँगते हैं हम,' सबसे बढकर है यह झूठ—
सत्य चिरन्तन है भव के पीछे जो हँसता है कंकाल!

ताजमहल की छाया में

मुझमें यह सामर्थ्य नहीं है मैं कविता कर पाऊँ,
या कूँची से रंगों ही का स्वर्ण-वितान बनाऊँ।
साधन इतने नहीं कि पत्थर के प्रासाद खड़े कर—
तेरा, अपना और प्यार का नाम अमर कर जाऊँ।

पर वह क्या कम कवि है जो कविता में तन्मय होवे
या रंगों की रंगीनी में कटु जग-जीवन खोवे ?
हो अत्यन्त निमग्न, एकरस, प्रणय देख औरों का—
औरों के ही चरण-चिह्न पावन आँसू से धोवे ?

हम-तुम आज खड़े हैं जो कन्धे से कन्ध मिलाए,
देख रहे हैं, अचिर युगों से अथक पाँव फैलाए
व्याकुल आत्म-निवेदन-सा यह दिव्य कल्पना-पक्षी
क्यों न हमारा हृदय आज गौरव से उमड़ा आए !

मैं निर्धन हूँ, साधनहीन, न तुम ही हो महारानी
पर साधन क्या ? व्यक्ति साधना ही से होता दानी !
जिस क्षण हम यह देख सामने स्मारक अमर प्रणय का
प्लावित हुए, वही क्षण तो है अपनी अमर कहानी !

एक चित्र

मुझे देखकर नयन तुम्हारे
मानों किंचित् खिल जाते हैं,
मौन अनुग्रह से भरकर वे
अधर तनिक से हिल जाते हैं

तुम हो बहुत दूर, मेरा तन
अपने काम लगा रहता है—
फिर भी सहसा अनजाने में
मन दोनों के मिल जाते हैं।

इस प्रवास में चित्र तुम्हारा
बना हुआ है मेरा सहचर
इसी लिए, यह लम्बी यात्रा
नहीं हुई है अब तक दूभर—
इस उन्मूलित तरु पर भी क्यों
खिलें न नित्य नयी मंजरियाँ—
छलकाने को स्नेह-सुधा जब
छवि तेरी रहती चिर-तत्पर?

घुँट जाते हैं हाथ चौखटे पर,
यद्यपि यह पागलपन है,
रोम पुलक उठते हैं, यद्यपि
झूठी वह तन की सिहरन है,

प्राप्ति कृपा है वरदाता की
साधक को है सिद्धि निवेदन

छवि-दर्शन तो दूर, मुझे
तेरा चिन्तन ही महा-मिलन है।

चिन्तामय

आज चिन्तामय हृदय है
प्राण मेरे थक गए हैं—
बाट तेरी जोहते ये
नैन भी तो पक गए हैं;

निबल आकुल हृदय में
नैराश्य एक समा गया है
वेदना का क्षितिज मेरा
आँसुओं से छा गया है।

आज स्मृतियों की नदी से
शब्द तेरे पी रहा हूँ
प्यास मिटने की असम्भव
आस पर ही जी रहा हूँ!

पा न सकने पर तुझे
संसार सूना हो गया है—
विरह के आघात से प्रिय!
प्यार दूना हो गया है!

जब नहीं अनुभूति मिलती
लोग दर्शन चाहते हैं,
उदधि बदले बूँद पाकर
विधि-विधान सराहते हैं ;

किन्तु दर्शन की कमी ही
बन गई अनुभूति मुझको
यह तृषित चिर वञ्चना ही
मिली दिव्य-विभूति मुझको !

दीखता है, प्राप्ति का
कङ्काल बनकर मैं रहूँगा
स्मित-विहत मुख से सदा
गाथा भविष्यत् की कहूँगा !

जगत् सोचेगा कि इस कवि
ने विरह जाना नहीं है,
विषलता का विकच काला
फूल पहिचाना नहीं है,

जब कि उसके तिक्त फल को
आज लौं मैं खा रहा हूँ—
जब कि तिल-तिल भस्म अपने
को किए मैं जा रहा हूँ !

किन्तु मुझको समय उसका
दुःख करने को नहीं है—
भक्त तेरे को यहाँ
अवकाश मरने को नहीं है ।

भक्त का कोई समय
रह जाय भी आराधना से
व्यस्त वह उसमें रहे
आराधना की साधना से !

यदि सफल है दिवस वह
जिसमें भरा है प्यार तेरा—
रैन भी सूनी न होगी
अङ्क ले अभिसार तेरा !

किन्तु कोई तर्क में कब
भक्त का उर भर सका है ?
मेघ का घनघोर गर्जन
कब तृपा को हर सका है ?

बिखर जाते गान हैं सब
व्यर्थ स्वर-सन्धान मेरे—
छटपटाते बीतते हैं
दीर्घ साँझ विहान मेरे—

आज छू दे मन्त्र से, ओ
दूर के मेहमान मेरे—
आज चिन्तामय हृदय है
थक गए हैं प्रान मेरे !

निवेदन

मैं जो अपने जीवन के क्षण-क्षण के लिए लड़ा हूँ—
अपने हक के लिए विधाता से भी उलझ पड़ा हूँ,
सहसा शिथिल पड़ गया है आक्रोश हृदय का मेरे—
आज शान्त हो तेरे आगे छाती खोल खड़ा हूँ।

मुझे घेरता ही आया है यह माया का जाला,
मुझे बाँधती ही आई है इच्छाओं की ज्वाला,
मेरे कर का खड्ग मुझी से स्पर्धा करता आया—
साधन आज मुक्ति का हो तेरे कर की वरमाला!

मर्म दुख रहा है, पर पीड़ा तो है सखी पुरानी,
व्यथा भार से नहीं झुका है यह मस्तक अभिमानी;
आज चाहता हूँ कि मौन ही रहे निवेदन मेरा—
स्वस्तिवचन में ही हो जावे मेरी पूर्ण कहानी!

क्षण भर सम्मोहन छा जाए !

क्षण भर सम्मोहन छा जा
क्षण भर स्तम्भित हो जाए यह
अधुनातन जीवन का संकुल—
ज्ञान रूढ़ि की अनमिट लीकें
हृत्पट से पल भर जावें धुल,
मेरा यह आन्दोलित मानस, एक निमिष निश्चल हो जाए !
क्षण भर सम्मोहन छा जाये !

मरा ध्यान अकम्पित है, मैं
क्षण में छवि कर लूँगा अंकित,
स्तब्ध हृदय फिर नाम-प्रणय से
होगा दुस्सह गति से स्पन्दित !
एक निमिष-भर, बस ! फिर विधि का घर प्रलयंकर बरसा आए,
क्रूर काल-क्रूर का कराल शर मुझको तेरे वर-सा आए !
क्षण भर सम्मोहन छा जाए !

मेरी थकी हुई आँखों को

मेरी थकी हुई आँखों को
किसी ओर तो ज्योति दिखा दो—
कुज्झटिका के किसी रंध्र से
ही लघु रूप किरण चमका दो

अनचीती ही रहे बाँसुरी
साँस फूँक दो, चाहे उन्मन—

मेरे सूखे प्राण-दीप में
एक बूँद तो रस बरसा दो !

निरालोक

निरालोक यह मेरा घर रहने दो।
सीमित स्नेह, विकम्पित बाती—
इन दीपों में नहीं समायेगी मेरी यह जीवन-थाती—
पञ्च प्राण की अनभ्रिप लौ से
ही वे चरण मुझे गहने दो—
निरालोक यह मेरा घर रहने दो।

घर है उसकी आँचल-छाया,
किस माया में मैंने अपना यह अर्पित ।नस भरमाया ?
अहङ्कार की इस विभीषिका
को तमसा ही में ढहने दो!
निरालोक यह मेरा घर रहने दो!

शब्द उन्ही के जिनको सुख है
अर्थ लाभ का मोह उन्हें जिनको कुछ दुख है—
शब्द-अर्थ से परे, मूक,
मेरी जीवन-वाणी बहने दो—
निरालोक यह मेरा घर रहने दो!

स्वर अवरुद्ध, कण्ठ है कुण्ठित,
पैरो की गति रुद्ध, हाथ भी बद्ध, शीश भू-लुण्ठित,
उसकी ओर चेतना-सरिणी
को ही बहने दो, बहने दो!
निरालोक यह मेरा घर रहने दो!

द्वितीया

मेरे सारे शब्द प्यार के
किसी दूर विगता के जूठे
तुम्हें मनाने हाय कहाँ से
ले आऊँ मैं भाव अनूठे ?

तुम देती हो अनुकम्पा से
मैं कृतज्ञ हो ले लेता हूँ—
तुम रूठीं—मैं मन मसोसकर
कहता- भाग्य हमारे रूठे !

मैं तुमको सम्बोधन कर
मीठी-मीठी बातें करता हूँ
किन्तु हृदय के भीतर किसकी
तीखी चोट सदा सहता हूँ

ाते सच्ची हैं यद्यपि वे
नहीं तुम्हारी हो सकती ह—
तुमसे झूठ कहूँ कैसे जब
उसके प्रति सच्चा रहता हूँ ?

मेरा क्या है दोष कि जिसको
मैंने जी भर प्यार किया था
प्रात किरण ज्यों नवकलिका में
जिसको उर में धार लिया था

मुझ आतुर को छोड अकेली
जाने किस पथ चली गई वह—
एक आग के फेरे करके
जिस पर सब कुछ वार दिया था ?

मेरा क्या है दोष कि मैंने
तुमको बाद किसी के जाना ?
अपना जब छिन गया पराए
धन का तब गौरव पहचाना ?

प्रथम बार का मिलन चिरन्तन
सोचो, कैसे हो सकता है—
जब इस जग के चौराहे पर
लगा हुआ है आना जाना ?

होगी यह कामुकता जो मैं
तुमको साथ यहाँ ले आया—
किसी गता के आसन पर जो
बरबस मैंने तुम्हें बिठाया,

किन्तु देखता हूँ, मेरे उर
में अब भी वह रिक्त बना है
निर्बल होकर भी मैं उसकी
स्मृति से अलग कहाँ हो पाया ?

तुम न मुझे कोसो, लज्जा से
मस्तक मेरा झुका हुआ है
उर में वह अपराध व्यक्त है
ओठों पर जो रुका हुआ है—

आज तुम्हारे सम्मुख जो
उपहार रूप रखने आया हूँ
वह मेरा मन-फूल दूसरी
वेदी पर चढ़ चुका हुआ है !

फिर भी मैं कैसे आया हूँ
क्योंकर यह तुमको समझाऊँ—
स्वयं किसी का होकर कैसे
मैं तुमको अपना कह पाऊँ ?
पर मन्दिर की माँग यही है
वेदी रहे न क्षण भर सूनी
वह यह कब इंगित करता है
किसकी प्रतिमा वहाँ बिठाऊँ ?

नहीं अंग खोकर लकड़ी पर
हृदय अपाहिज का थमता है
किन्तु उसी पर धीरे-धीरे
पुनः धैर्य उसका जमता है।
उर उसको धारे है, फिर भी
तेरे लिए खुला जाता है—
उतना आतुर प्यार न हो पर
उतनी ही कोमल ममता है !

शायद यह भी धोखा ही हो
तब तुम सच मानोगी इतना
एक तुम्हीं को दे देता हूँ
उससे बच जाता है जितना।

और छोड़कर मुझको वह
निर्मम इतनी अब है संन्यासिनि—
उसको भोग लगाकर भी तो
बच जाता है जाने कितना !

प्यार अनादि स्वयं है, यद्यपि
हममें अभी-अभी आया है
बीच हमारे जाने कितने
मिलन-विरहों की छाया है—
मति तो उसके साथ गई, पर
यह विचारकर रह जाता हूँ—
वह भी थी विडम्बना विधि की
यह भी विधना की माया है !

उस अत्यन्तगता की स्मृति को
फिर दो सूखे फूल चढ़ाकर
उस दीपक की अनझिप ज्वाला
आदर से थोडा उकसाकर
मैं मानो उसकी अनुमति से
उसकी याद हरी करता हूँ—
उससे कही हुई बातें
फिर-फिर तेरे आगे दुहराकर !

मैंने आहुति बनकर देखा—

मैं कब कहता हूँ जग मेरी दुर्धर गति के अनुकूल बने,
मैं कब कहता हूँ जीवन-मरु नन्दन-कानन का फूल बने ?

काँटा कठोर है, तीखा है, उसमें उसकी मर्यादा है,
मैं कब कहता हूँ वह घटकर प्रान्तर का ओछा फूल बने ?

मैं कब कहता हूँ मुझे युद्ध में कहीं न तीखी चोट मिले ?
मैं कब कहता हूँ प्यार करूँ तो मुझे प्राप्ति की ओट मिले ?

मैं कब कहता हूँ विजय करूँ—मेरा ऊँचा प्रासाद बने ?
या पात्र जगत् की श्रद्धा की मेरी धुँधली भी याद बने ?

पथ मेरा रहे प्रशस्त सदा क्यों विकल करे यह चाह मुझे ?
नेतृत्व न मेरा छिन जाए क्यों इसकी हो परवाह मुझे ?

मैं प्रस्तुत हूँ चाहे मेरी मिट्टी जनपद की धूल बने—
फिर उस धूली का कण-कण भी मेरा गति-रोधक शूल बने ?

अपने जीवन का रस देकर जिसको यत्नों से पाला है—
क्या वह केवल अवसाद मलिन झरते आँसू की माला है ?

वे रोगी होंगे प्रेम जिन्हें अनुभव रस का कटु प्याला है—
वे मुर्दे होंगे प्रेम जिन्हें सम्मोहन-कारी हाला है।

मैंने विदग्ध हो जान लिया, अन्तिम रहस्य पहचान लिया
मैंने आहुति बनकर देखा यह प्रेम यज्ञ की ज्वाला है!

मैं कहता हूँ मैं बढ़ता हूँ मैं नभ की चोटी चढ़ता हूँ
कुचला जाकर भी धूली-सा आँधी-सा और उमड़ता हूँ

मेरा जीवन ललकार बने, असफलता ही असिधार बने
इस निर्मम रण में पग-पग का रुकना ही मेरा वार बने!

भव सारा तुझको है स्वाहा सब कुछ तपकर अङ्गार बने
तेरी पुकार-सा दुर्निवार मेरा यह नीरव प्यार बने!

आज थका हिय हारिल मेरा !

इस सूखी दुनिया में प्रियतम
मुझको और कहाँ रस होगा ?
शुभे ! तुम्हारी स्मृति के सुख से
प्लावित मेरा मानस होगा !

दृढ़ डैनों के मार थपेड़े
अखिल व्योम को वश में करता
तुझे देखने की आशा से
अपने प्राणों में बल भरता

ऊषा से ही उड़ता आया
पर न मिल सकी तेरी झाँकी
साँझ समय थक चला विकल
मेरे प्राणों का हारिल पाखी

तृषित श्रान्त, नभ भ्रान्त और
निर्मम झंझा झोंकों से ताड़ित—
दरस प्यास है असह, वहीं पर
किए हुए उसको अनुप्राणित !

× × ×

गा उठते हैं, 'आओ आओ !'
केकी प्रिय घन को पुकारकर
स्वागत की उत्कण्ठा में वे
हो उठते उद्भ्रान्त नृत्य पर !

चातक तापस तरु पर बैठा
स्वाति बूँद में ध्यान रमाए,
स्वप्न तृप्ति का देखा करता
'पी! पी! पी!' की टेर लगाए;

हारिल को यह सह्य नहीं है
वह पौरुष का मदमाता है
इस जड धरती को ठुकरा कर
उषा समय वह उड जाता है!

"बैठो, रहो, पुकारो-गाओ,
मेरा वैसा धर्म नही है,
मै हारिल हूँ, बैठे रहना
मेरे कुल का कर्म नही है।

तुम प्रिय की अनुकम्पा मागो,
मै माँगूँ अपना समकक्षी
साथ साथ उड सकने वाला
एकमात्र वह कञ्चन पक्षी!"

यों कहता उड़ जाता हारिल
लेकर निज भुजबल का सम्बल
किन्तु अन्त सन्ध्या आती है
आखिर भुजबल है कितना बल?

कोई गाता, किन्तु सदा
मिट्टी से बँधा हुआ रहता है,
कोई नभ चारी, पर पीडा भी
चुप होकर ही सहता है:

चातक हैं, केकी हैं, सन्ध्या
को निराश हो सो जाते हैं,
हारिल हैं उड़ते उड़ते ही
अन्त गगन में खो जाते हैं।

कोई प्यासा मर जाता है
कोई प्यासा जी लेता है
कोई परे मरण जीवन से
कड़ुवा प्रत्यय पी लेता है

× × ×

आज प्राण मेरे प्यासे हैं
आज थका हिय हारिल मेरा
आज अकेले ही उसको इस
अंधियारी सन्ध्या ने घेरा।

मुझे उतरना नहीं भूमि पर
तब इस सूने में खोऊँगा
धर्म नहीं है मेरे कुल का
थक कर भी मैं क्यों रोऊँगा?

पर प्रिय अन्त समय में क्या तुम
इतना मुझे दिलासा दोगे—
जिस सूने में मैं लुट चला
कहीं उसी में तुम भी होगे?

इस रूखी दुनिया में प्रियतम
मुझको और कहाँ रस होगा?
शुभे तुम्हारी स्मृति के सुख से
प्लावित मेरा मानस होगा!

ओ मेरे दिल !

धक् - धक् धक् - धक्
ओ मेरे दिल !
तुझमें सामर्थ्य रहे जब तक
तू ऐसे सदा तड़पता चल !

जब ईसा को देकर सूली
जनता न समाती थी फूली
हँसती थी अपने भाई की
लख देह टिकटिकी पर झूली,

ताने दे-देकर कहते थे
सैनिक उसको बेबस पाकर
ले अब पुकार उस ईश्वर को—
बेटे को मुक्त करे आकर !

जब तख़्तों पर करबद्ध टँगे,
नरवर के कपड़े ख़ून-रँगे,
पाँसे के दाव लगाकर वे
सब आपस में थे बाँट रहे,

तब जिसने करुणा से भरकर
उस जगत्पिता से आग्रह कर
माँगा था, "मुझे यही वर दे—
इनके अपराध क्षमा कर दे !"

वह अन्त समय विश्वास-भरी
जग से फिरकर संन्यास-भरी
अपनी पीड़ा की तडपन में
भी पर-पीड़ा से त्रास-भरी

ईसा की सब सहनेवाली
चिर-जागरूक रहनेवाली
यातना तुझे आदर्श बने
कटु सुन मीठा कहनेवाली !

तुझमें सामर्थ्य रहे जब तक
तू ऐसे सदा तड़पता चल-
धक् - धक् धक् - धक्
ओ मेरे दिल !

२

धक् - धक् धक् - धक्
ओ मेरे दिल !
तुझमें सामर्थ्य रहे जब तक
तू ऐसे सदा तडपता चल !

बोधी तरु की छाया नीचे
जिज्ञासु बने--आँखें मीचे--
थे नेत्र खुल गए गौतम के
जब प्रज्ञा के तारे चमके,

सिद्धार्थ हुआ जब बुद्ध बना
जगती ने यह सन्देश सुना---
तू सघबद्ध हो जा, मानव !
अब शरण धर्म की आ, मानव !

जिस आत्मदान से तड़प रही
गोपा ने थी यह बात कही---
जिस साहस से निज द्वार खड़े
उसने प्रियतम की भीख सही,

"तू अन्धकार में मेरा था
आलोक देखकर चला गया,
यह साधन तेरे गौरव का
गौरव द्वारा ही छला गया---

पर मैं अबला हूँ, इसीलिए
कहती हूँ, प्रणत प्रणाम किए,
मैं तो उस मोह निशा में भी
ओ मेरे राजा, तेरी

अब तुझसे पाकर ज्ञान नया
यह एकनिष्ठ मन जान गया
मैं महाश्रमण की चेरी हूँ---
ओ मेरे भिक्षुक ! तेरी हूँ !"

वह मर्माहत, वह चिरकातर
पर आत्मदान को चिर-तत्पर
युग-युग से सदा पुकार रहा
औदार्य-भरा नारी का उर !

तुझमें सामर्थ्य रहे जब तक
तू ऐसा सदा तड़पता चल---
धक् - धक् धक् - धक्
ओ मेरे दिल !

२

धक् - धक् धक् - धक्
ओ मेरे दिल !
तुझमें सामर्थ्य रहे जब तक
तू ऐसे सदा तड़पता चल !

बीते युग में जब किसी दिवस
प्रेयसि के आग्रह से बेबस
उस आदिम आदम ने पागल
चख लिया ज्ञान का वर्जित फल,

अपमानित विधि हुंकार उठी
हो वज्रहस्त फुफकार उठी
अनिवार्य शाप के अंकुश से
धरती से एक पुकार उठी

"तू मुक्त न होगा जीने से
भव का कड़वा रस पीने से
तू अपना नरक बनाएगा
अपने ही ख़ून-पसीने से !"

तब तुझमें जो दुस्सह स्पन्दन
कर उठा एक व्याकुल क्रन्दन—
"हम नन्दन से निर्वासित हैं
ईश्वर-आश्रय से वञ्चित हैं,

पर मैं तो हूँ, पर तुम तो हो
हम साथी हैं, फिर हो सो हो !
गौरव विधि का होगा क्योंकर
मेरी-तेरी पूजा खोकर ?"

उस स्पन्दन ही से मान भरे,
ओ उर मेरे अरमान-भरे,
ओ मानस मेरे मतवाले---
ओ पौरुष के अभिमान भरे !

तुझ में सामर्थ रहे जब तक
तू ऐसे सदा तड़पता चल,
धक् - धक् धक् - धक्
ओ मेरे दिल !

उड़ चल, हारिल—

उड़ चल, हारिल, लिए हाथ में
यही अकेला ओछा तिनका—
ऊषा जाग उठी प्राची में
कैसी बाट, भरोसा किनका !
शक्ति रहे तेरे हाथों में—
छुट न जाय यह चाह सृजन की
शक्ति रहे तेरे हाथों में
रुक न जाय यह गति जीवन की !

ऊपर ऊपर ऊपर ऊपर
बढ़ा चीरता चल दिङ्मंडल
अनथक पंखों की चोटों से
नभ में एक मचा दे हलचल !
तिनका ? तेरे हाथों में है
अमर एक रचना का साधन—
तिनका ? तेरे पंजे में है
विधना के प्राणों का स्पन्दन !

काँप न, यद्यपि दसों दिशा में
तुझे शून्य नभ घेर रहा है,
रुक न, यद्यपि उपहास जगत का
तुझको पथ से हेर रहा है,

तू मिट्टी था, किन्तु आज
मिट्टी को तूने बांध लिया है
तू था सृष्टि, किन्तु स्रष्टा का
गुर तूने पहचान लिया है।

मिट्टी निश्चय है यथार्थ, पर
क्या जीवन केवल मिट्टी है?
तू मिट्टी, पर मिट्टी से उठने
की इच्छा किसने दी है?

आज उसी ऊर्ध्वग ज्वाल का
तू है दुर्निवार हरकारा
दृढ़ ध्वजदण्ड बना यह तिनका
सूने पथ का एक सहारा।

मिट्टी से जो छीन लिया है
वह तज देना धर्म नहीं है
जीवन साधन की अवहेला
कर्मवीर का कर्म नहीं है!

तिनका पथ की धूल, स्वयं तू
है अनन्त की पावन धूली—
किन्तु आज तू ने नभ पथ में
क्षण में बद्ध अमरता छू ली!

ऊषा जाग उठी प्राची में—
आवाहन यह नूतन दिन का—
उड़ चल, हारिल, लिए हाथ में
एक अकेला पावन तिनका!

रजनी-गंधा मेरा मानस

रजनी-गंधा मेरा मानस
पा इन्दु-किरण का नेह-परस
छलकाता अन्तस् से स्मृति-रस

उत्फुल्ल, खिले इह ने बरबस,
जागा पराग, तन्द्रिल, सालस
मधु से बस गईं दिशाएँ दस

हर्षित मेरा जीवन-सुमनस्—
लो, पुलक उठी मेरी नस-नस
जब स्निग्ध किरण-कण पड़े बरस !

तुमसे सार्थक मेरी रजनी
पावन-रजनी से पुण्य-दिवस
तू सुधा-सरस तू दिव्य-दरस

तू पुण्य-परस मेरा सुधांशु—
इस अलस निशा में चला विकस—
रजनीगंधा मेरा मानस !

वंचना के दुर्ग

अलो को

सूची

जब जब पीड़ा मन में उमगी

जब जब पीड़ा मन में उमगी
तुमने मेरा स्वर छीन लिया।
मेरी निश्शब्द विवशता में
झरता आँसूकन बीन लिया।

प्रतिभा दी थी जीवन-प्रसून
से सौरभ-सञ्चय करने की—

क्यों सार निवेदन का मेरे
कहने से पहले चीन्ह लिया?

सावन-मेघ

१

घिर गया नभ, उमड़ आए मेघ काले,
भूमि के कम्पित उरोजों पर झुका सा
विशद, श्वासाहत, चिरातुर
छा गया इन्द्र का नील वक्ष—
वज्र सा, यदि तडित से झुलसा हुआ सा।

आह, मेरा श्वास है उत्तप्त—
धमनियों में उमड़ आई है लहू की धार—
प्यार है अभिशप्त—
तुम कहाँ हो नारि?

२

मेघ-आकुल गगन को मैं देखता था
बन विरह के लक्षणों की मूर्त्ति—
सूक्ति की फिर नायिकाएँ
शास्त्र-सङ्गत प्रेम क्रीड़ाएँ,
घुमड़ती थीं बादलों में
आर्द्र, कच्ची वासना के धूम सी।

जब कि सहसा तड़ित के आघात से घिरकर
फूट निकला स्वर्ग का आलोक,
बाध्य देखा—
स्नेह से आलिप्त
बीज के भवितव्य से उत्फुल्ल
बद्ध
वासना के पंक सी फैली हुई थी
धारयित्री सत्य सी निर्लज्ज, नंगी
औ' समर्पित !

आह्वान

ठहर, ठहर आततायी ! जरा सुन ले
मेरे क्रुद्ध वीर्य की पुकार आज सुन जा
रागातीत, दर्पस्फीत, अतल, अतुलनीय,
मेरी अवहेलना की टक्कर सहार ले—
क्षण भर स्थिर खड़ा रह ले—
मेरे दृढ़ पौरुष की एक चोट सह ले !

नूतन प्रचण्डतर स्वर से
आततायी, आज तुझको पुकार रहा मैं—
रणोद्यत, दुर्निवार ललकार रहा मैं—
कौन हूँ मैं ?
तेरा दीन, दु खी, पददलित पराजित
आज जो कि क्रुद्ध-सर्प-से अतीत को जगा
'मैं' से 'हम' हो गया।

'मैं' के झूठे अहकार ने हराया मुझे
तेरे आगे विवश झुकाया मुझे,
किन्तु आज मेरे इन बाहुओं में शक्ति है,
मेरे इस पागल हृदय में भरी भक्ति है—
आज क्यों कि मेरे पीछे जाग्रत अतीत है,
और मेरे आगे है अनन्त
आदि-हीन शेष-हीन पथ वह

जिस पर
एक दृढ़ पैर का ही स्थान है
और वह दृढ़ पैर मेरा है,
गुरु, स्थिर, स्थाणु सा गड़ा हुआ
तेरी प्राण-पीठिका पै लिंग-सा खड़ा हुआ!

और हाँ, भविष्य के अजनमे प्रवाह से,
भावी नवयुग के ज्वलन्त प्राणदाह से
प्रबल प्रतापवान्, निविड़ प्रवाहमान
छोड़ता स्फुलिंग पै स्फुलिंग
आसपास बाधामुक्त हो बिखरता--
क्षार, क्षार—धूल, धूल—
और वह धूल तेरे गौरव की धूल है .
मेरा पथ तेरे ध्वस्त गौरव का पथ है
और तेरे भूत काले पापों में प्रवहमान
लाल आग
मेरे भावी गौरव का रथ है!

अचरज

आज सवेरे
अचरज एक देख मैं आया।

एक घने, पर धूल भरे से
अर्जुन तरु के नीचे
एक तार पर बिजली के वे सटे हुए बैठे थे—
दो पंछी छोटे छोटे
घनी छाँह में, जग से अलग, किन्तु परस्पर सलग।
और नयन शायद अधमीचे।
और उषा की धुँधली-सी अरुणाली थी सारा जग सींचे।

छोटे, इतने क्षुद्र कि जग की
सदा सजग आँखों की एक अकेली झपकी—
एक पलक में—वे मिटजाएँ, कहीं न पाएँ,—
छोटे, किन्तु छिव में इतने सुन्दर—
जग-हिय ईर्ष्या से भर जावे;
भर क्यों—भरा सदा रहता है—
छल छल उमड़ा आवे!

—सलग, प्रणय की आँधी में मानो भूले दिनमान,
विधि का करते-से आह्वान।

मैं जो रहा देखता, तब विधि ने भी सब कुछ देखा होगा—
वह विधि, जिसके अधिकृत उनके मिलन-विरह का लेखा होगा—
किन्तु रहे वे फिर भी सटे हुए, संलग्न—
आत्मता में ही तन्मय, तन्मयता में सतत निमग्न !

और—बीत चुका जब मेरे जाने समय युगों का—
आया एक हवा का झोंका—
काँपे तार—झरा दो कण नीहार—
उस समय भी तो उनके उर के भीतर
कोई खलिश नहीं थी—कोई रिक्त नहीं था—
नहीं वेदना की टीसों को स्थान कहीं था !
तब भी तो वे सहज परस्पर
पङ्ख से पङ्ख मिलाए,
वाताहत तम की झकझोर में भी अपने चारों ओर
एक प्रणय का निश्चल वातावरण जमाए,
उड़े जा रहे थे, अतिशय निर्द्वन्द्व—
और विधि देख रही—निःस्पन्द !

लौट चला आया हूँ फिर भी प्राण पूछते जाते हैं
क्या वह सच था ? और नहीं उत्तर पाते हैं—
और कहे ही जाते हैं
कि आज मैं
अचरज एक देख आया ।

तीसरा पक्षी

भोर वेला धरती को रौंदकर
    हारिल उड़ा था जो—
दिन भर दृढ़ता से तिनके को थामे हुए
डैने मार मार अवहेलना सदर्प से
    दूर ठेल ललकार वायु की
साँझ होते थककर
    शून्य लीन
    हो गया—
    ओझल, अदृश्य ।

    —करुणा से आर्द्र होके कवि ने
    बाँधे छन्द, गाया गान
    काँपते, रुआसे सुर में द्रवित प्राण भरके
    'हाय-हाय, हारिल-नियति ! यह युति में
                                त्रिकाल की
            दश विच्छेद का—
    ढोल ध्वान्त-मसृण अरुणिमा में
                                मृत्यु का
            निर्मम कठोर कटु-स्पर्श—
            दारुण आघात !'

यद्यपि
हारिल के पास दिन भर के प्रयास का—
        श्रमसिक्त कृती का सन्तोष है,
दिवसावसान पर कार्यवसान की है ताल-युक्त एकरूपता ;
और एक रूप समापन में
खण्डन नहीं, वरञ्च सिद्धि, निष्पत्ति है !
यद्यपितु
हारिल के पास है
        नीडोन्मुखता,
आकुलता जिसकी
स्वयमेव अपना शमन है—
        वरदान—
            है ।

२

रात की अँधेरी दीर्घ घड़ियों में
        यामिनी के गोपन रहस्यों को टेरते—
उनकी मुखरता, अस्फुट रहःशीलता के सहजोन्मेष की
                                        निकटतम
तीव्र अन्तरानुभूति से पुकार करते
        व्रती क्रौंच ने हठात्
बीच ही में अटपटी अपनी उड़ान के
प्रात रश्मि के प्रथम स्पर्श से हो सशंकित,
सिमट मुरझाकर
        जल-समाधि ले ली !

—स्वप्नों की मखमली क्रोड़ में से सहसा चमककर
कवि उठा, फूटा सोता वेदना का, झरझर—
लयमयी व्यथा वह निकली—
'आह क्रौंच! आह यह—
निशिव्यापी धीर गुरु-जागर के अन्त में
परमोन्मेष के पुनीत क्षण ही में घोर मूर्छना—
निविड निशीथिनी—
महानिशा!'

यद्यपि अन्धकार के
जागरूक प्रहरी का दिनारम्भ में अचेत होना ही
जीवन की व्रत-सम्पूर्ति है,
और उष किरण के स्पर्श पर क्रौंच की एकाकिनी
पुकार तो
आगमिष्यत् के लिए आश्वासन की घोषणा,
आलोक की प्रशस्ति है;
यद्यपितु
परम रहस्य के संसर्ग के उपरान्त
समाधि उन्मेष है!

२

एक और तीसरा
नामहीन पक्षी
शिखर मध्याह्न के निदारुण दिवस में
ओरछोर-हीन फैले ताप-रुद्ध नभ में, घिरा हुआ

अन्य खग-कुल से, उड्डीयमान,
केवल उड्डीयमान, निरादर्श, स्पर्धाहीन, तपहीन,
केवल निदाघ के अदृश्य अङ्गारों से विदग्ध और श्वासरोधी
वायुवृत्त भेदने को—उड़ रहा
केवल एक साँस लेने को—
अकारण अकारण
गिर गया सिकता में नदी के कछार की।

—किन्तु उस क्षण कवि
अभी अभी सोया ही था
मनोवाञ्छित कलेऊ करके
और कब टूटी नींद भरे पेट प्राणी की
चाहे फिर ग्रीष्म की दुपहरी का दिन हो?

उषःकाल की भव्य शान्ति

निविडाऽन्धकार
को मूर्त रूप दे देनेवाली
एक अकिंचन, निष्प्रभ अनाहूत
अज्ञात द्युति किरण—

आसन्न-पतन, बिन-जमी ओस की अन्तिम
ईषत्करुण, स्निग्ध, कातर शीतलता
अस्पृष्ट किन्तु अनुभूत—

दूर किसी मीनार-क्रोड से मुल्ला का
एक-रूप पर अनेक भावोद्दीपक
गंभीऽर आऽह्वाऽन—
'अस्सला तु खैरुम्मिनिन्नाऽ'—

निकट गली में
किसी निष्करुण जन से बिन-कारण पदाक्रान्त
पिल्ले की करुण रिरियाहट—

पार गली के छप्परतल में
शिशु का तुनक-तुनककर रोना, मातृवत्‌ को आतुर।

ऊपर
व्याप्त ओर-छोर-मुक्त नीलाकाश—
दो अनथक, अपलक-द्युति ग्रह
रात-रात में नभ का आधा व्यास पार कर
फिर भी नियति बद्ध अग्रसर।

उष:काल
अनायास उठ गया चेतना से निद्रा का आँचल—
मिला न पर पार्थक्य, पड़ा मैं स्तब्ध, अचंचल
मैं ही हूँ वह पदाक्रान्त रिरियाता कुत्ता—
मैं ही वह मीनार-शिखर का प्रार्थी मुल्ला—
मैं वह छप्पर-तल का अहलीन शिशु-भिक्षुक—
और, हाँ, निश्चय.
मैं वह तारक-युग्म.
अपलक-द्युति. अनथक-गति. बद्ध-नियति
जो पार किये जा रहा नील-मरु-प्रांगण नभ का।
मैं हूँ ये सब. ये सब मुझमें जीवित—
मेरे कारण अवगत—मेरे नेत्र में अग्नित्व-प्राम!

उष:काल
उष:काल की रहस्यमय
भव्य शान्ति!

शिशिर की राका-निशा

वञ्चना है चाँदनी सित
झूठ वह आकाश का निरवधि. गहन विस्तार--
शिशिर की राका-निशा की शान्ति है निस्सार !

दूर वह सब शान्ति, वह सित भव्यता, वह शून्य
के अवलेप का प्रस्तार—
इधर—केवल झलमलाते
चेतहर, दुर्धर कुहासे की हलाहल-स्निग्ध मुट्ठी में
सिहरते-से, पंगु, टुंडे
नग्न, बुच्चे, दईमारे पेड़ !
पास फिर, दो भग्न गुम्बद—
निविडता को भेदती चीत्कार-सी मीनार—
बाँस की टूटी हुई टट्टी, लटकती
एक खम्भे से फटी-सी ओढ़नी की चिन्दियाँ दो चार !
निकटतर—धँसती हुई छत, आड़ में निर्वेद
मूत्र-सिंचित मृत्तिका के वृत्त में
तीन टाँगों पर खड़ा, नतग्रीव,
धैर्य-धन गदहा ।

निकटतम
रीढ़ वंकिम किए, निश्चल किन्तु लोलुप
खड़ा वन्य विलार—
पीछे, गोयठों के गन्धमय अम्बार !
गा गया सब राजकवि, फिर राजपथ पर खो गया।
गा गया चारण, शरण फिर शूर की आकर, निरापद सो गया।
गा गया फिर भक्त ढुलमुल चाटुता से वासना को झलमलाकर,
गा गया अन्तिम प्रहर में वेदना-प्रिय, अलस, तन्द्रिल, कल्पना का लाड़ला
कवि निपट भावावेश से निर्वेद !

किन्तु अब—निस्तब्ध—संस्कृत
लोचनों का भाव-संकुल, व्यञ्जना का भीरु
फटा-सा, अश्लील-सा विस्फार—

झूठ वह आकाश का निरवधि गहन विस्तार—
वञ्चना है चाँदनी सित,
शिशिर की राका-निशा की शान्ति है निस्सार !

वर्ग-भावना—सटीक

अवतंसों का वर्ग हमारा
खड्गधार भी न्यायधार भी।

हमने क्षुद्र तुच्छतम जन से
अनायास ही बाँट लिया
श्रमभार भी सुखभार भी।

बल्कि बढ़ गए हैं आगे भी—
हम निश्चय ही हैं उदार भी।

. . .

टीका—(यद्यपि भाष्यकार है दुर्मुख)
हम लोगों का एकमात्र श्रम है—सुरति-श्रम,
उस अन्त्यज का एकमात्र सुख है—मैथुन-सुख।

पार्क की बेंच

उजड़ा सुनसान पार्क
उदास गीली बेंचें—
 दूर-दूर के घरों के झरोखों से
 निश्चल, उदार परदों की ओट से झरे हुए
 आलोक को
 —वत्सल गोदियों से मोद-भरे बालक मचल मानो गए हों

बेंच पर टेहुनी-सा टिका मैं
आँख भर देखता हूँ सब।

तो

अनकन देखता ही रह जाता हूँ.

तो

भूल जाता हूँ कि मेरे आसपास
न केवल नहीं है अन्धकार, बल्कि
गैस के प्रकाश की तीखी गर्म लपलपाती जीभ
पत्ती-पत्ती घास तले झुके हुए उदास
नङ्गे पेड़ों को लील लिए जा रही है.

और बल्कि
देख इस निर्मम व्यापार को असंख्य
असहाय पतिंगे
तिलमिला उठे हैं, सिर पटकके
चीत्कार उठे हैं कि
निरदई हण्डे ने उन्हीं का अन्तिम
आसरा भी लूट लिया !

कंकरीट का पोर्च

नये मुहल्ले की ऊँची-ऊँची इमारतों के बीच से लाँघता हुआ

मैं क्षण-भर ठिठक गया, मेरी बहकी हुई आँख

एक डाक्टरनी के नये बँगले के कंकरीट के बढ़े हुए

निराधार पोर्च पर टिक गई

जो निराधार तो था, पर चौड़ा था, और बहुत-सी जगह पर

अपनी छाँह डाले था।

पर मेरे ऊँघते आत्मा ने जागकर कहा, 'मूर्ख,

सब घर गैर हैं।'

मेरा ध्यान

धुँधला-सा पड़ता हुआ,

गया

मैदान के किनारेवाली पटरी के उस मौलसिरी के

गाछ की ओर

जिसके नीचे की खुर्दी घास में बैठकर

एक दिन दो आने की विलायती मलाई की बर्फ

चाटी थी।

रात होते—प्रात होते

प्रात होते—
सबल पंखों की अकेली एक मीठी चोट से
अनुगता मुझको बनाकर बावली को—
जानकर मैं अनुगता हूँ—
उस विदा के विरह के विच्छेद के तीखे निमिष में भी
युता हूँ—

उड़ गया वह बावला
पंछी सुनहला
कर प्रहर्षित देह की रोमावली को।
प्रात होते।

वही जो
थके पंखों को समेटे—
आसरे की माँग पर विश्वास की चादर लपेटे—
चचु की उन्मुख विकलता के सहारे
नम रही ग्रीवा उठाए—
सिहरता-सा, काँपता-सा,
नीड़ की—नीड़स्थ सब कुछ की प्रतीक्षा भाँपता-सा,

निकट अपनों के---निकटतर भवितव्य की अपनी

प्रतिज्ञा के---

निकटतम इस वि-बुध सपनों की सखी के

आ गया था

आ गया था

रात होते !

[: इत्यलम् :

जैसे तुझे स्वीकार हो

जैसे तुझे स्वीकार हो।
गलती डाली, प्रकम्पित पात, पाटल-स्तम्भ विलुलित
खिल गया है सुमन मृदुदल, बिखरते किंजल्क प्रमुदित
स्नात मधु से अङ्ग-रञ्जित-राग केशर-अञ्जली से
स्तब्ध-सौरभ है निवेदित,
मलय-मारुत, और अब जैसे तुझे स्वीकार हो।

पंख कम्पन शिथिल, ग्रीवा उठी, डगमग पैर,
तन्मय दीठ अपलक—
कौन ऋतु है, राशि क्या, है कौन-सा नक्षत्र, गत-शंका, द्विधा-हत,
बिन्दु अथवा वज्र हो--
चंचु खोले, आत्म-विस्मृत हो गया है यती चातक—
स्वाति, नीरद, नील-द्युति, जैसे तुझे स्वीकार हो।

अभ्र लख भ्रू-चाप-सा, नीचे प्रतीक्षा में स्तिमित निःशब्द
धरा पाँवर-सी बिछी है, वक्ष उद्वेलित हुआ है स्तब्ध,
चरण की हो चाँप किंवा छाप तेरे तरल चुम्बन की—
महाबल, हे इन्द्र, अब जैसे तुझे स्वीकार हो।

मैं खड़ा खोले हृदय के सभी ममता-द्वार,
नमित मेरा भाल, आत्मा नमिततर, है नमित-तम मम
भावना-संसार,
फूट निकला है न-जाने कौन हृत्तल वेधता-सा
निवेदन का अतुल पारावार,
अभयवर हो, वरद-कर हो, तिरस्कारी वर्जना, हो प्यार .
तुझे प्राणाधार, जैसे हो तुझे स्वीकार—
सखे, चिन्मय देवता, जैसे तुझे स्वीकार हो!

चार का गजर

चार का गजर कहीं खड़का—
रात में उचट गई नींद मेरी सहसा—
छोटे-छोटे, बिखरे-से, शुभ्र अभ्र-खण्डों बीच द्रुतपद
भागा जा रहा है चाँद ;
जगा हूँ मैं एक स्वप्न देखता :

जाने कौन स्थान है, मैं खड़ा एक मंच पर
एक हाथ ऊँचा किए। भाषण के बीच में
रुककर नीचे देखता हूँ, जुटी भीड़ को
और फिर निज उठे कर को
जिसमें मैं एक चित्र थामे हूँ,
और फिर मुग्ध-नेत्र चित्र को ही देखता—
निर्निमेष लोचन-युगल जिसमें कि युवा कवि के
देखे जा रहे हैं, एक छायामय
किन्तु दीप्तिमान नारी-मुख को :
आकृति नहीं है स्पष्ट, किन्तु मानो फलक को भेदती-सी
दृष्टि उन अप्सरा की आँखों की
पैठी जा रही है कवि-युवक के उर में।

मेरी भाव-धारा फिर वेष्टित हो शब्द से
वह चलती है जन-संकुल की ओर (मानो निम्नगा

होके नभगंगा बनी धौत-पाप भागीरथ-तारिणी)
कहता हूँ, "देखो यहाँ चित्रण किया है चित्रकार ने
एक-निष्ठ, ध्येय-रत, तप-शील साधना का ;
दुर्निवार चला जा रहा है कवि-युवा निज पथ पर
उर धारे पुञ्जीकृत कल्पना की स्वप्न-मूर्त्त प्रतिमा ।
एक सीमा होती है, उलाँघकर जिसको,
बनता विसर्जन है विग्न उपलब्धि का .
देखो, कैसे तन्मय हुआ है वह, आत्मगान् !"

नीचे कहीं, सकुन्त के बीच से
आया एक स्वर, तीखा, व्यंग्य युक्त, मुझे ललकारता—
"तेरे पास भी तो प्रतिकृति है,
छायारूप तेरे निज मोह की यवनिका !"

मानो मेरा रोम-रोम पुलकित प्रहर्ष से,
मैंने एकाएक खींच लिया उस फलक को बेबसी-सी
देखा कृति-बीच वही चकित नैनों को -
तेरी थीं वे आँखें, आर्द्र, दीप्ति-युत,
मानो किसी स्पन्दन
तारे की झलक हो !

खुल गया चेतना का द्वार तभी
उठ गई मेरे मोह-स्वप्न की यवनिका
भिंची मेरी मुट्ठियाँ थीं
उनकी पकड़ किन्तु बाँधे एक शून्यता के
श्वास को—

छोटे-छोटे, बिखरे से, शुभ्र बादलों को पार करता—
मानो कोई तपक्षीण कापालिक
मध्य-साधना की बल बुझी, भगी,
बची-खुची राख पर धीमे पैर रखता—
नीरव, चपल-तर गति से
चाँद भागा जा रहा है
द्रुतपद—

जागा हूँ मैं स्वप्न से कि
चार का गजर कहीं खड़का !

भादों की उमस

सहमकर थम-से गए हैं बोल बुलबुल के,
मुग्ध, अनिमिष रह गए हैं नेत्र पाटल के,
उमस में बेकल, अचल हैं पात चलदल के,
नियति मानो बँध गई है व्यास में पल के।

लास्य कर कौंधी तड़ित उस पार बादल के,
वेदना के दो उपेक्षित वारि-कण ढलके,
प्रश्न जागा निरुत्तर मन में उफान के—
हो गए कैसे अजाने, सहपथिक कल के?

बदली की साँझ

धुँधली है साँझ, किन्तु अतिशय मोहमयी,
बदली है छाई, कहीं तारा नहीं दीखता।
खिन्न हूँ कि मेरी नैन-सरसी से झाँकता-सा
प्रतिबिम्ब प्रेयस, तुम्हारा नहीं दीखता।

माँगने को भूलकर बोध ही में डूब जाना
भिक्षुक स्वभाव क्यों हमारा नहीं सीखता?

विहग उदास

रात के रहस्यमय, स्पन्दित तिमिर को,
भेदती कटार-सी,
कौंध गई चौंकलाए मोर की पुकार—
वायु को कँपाती हुई,
छोटे-छोटे खिल जगे ओस-बिन्दुओं को झकझोरती,
दुस्सह व्यथा-सी
नभ पार!

मेरे स्मृति-गगन में तड़पा
अन्धकार चीरकर आया एक विहग उदास।
आँखों की पुतलियों में कौंधी थी बिजुलियाँ—
किन्तु वेदना के आई बन नाचे आस-पास!

अनुभव-लहर की चोट सोख लेती है
और मानो चोट खाए स्थल को
देने को विशेष कोई स्निग्ध-स्पर्श सान्त्वना--
रात के कुहासे में से एक छोटा तारा फूट निकला।

किन्तु मेरी स्मृति के
ओर-छोर-मुक्त, गतियुक्त से गगन में
थम गया, जम गया, वह स्थिर-नेत्र-युक्त चेहरा उदास -
आँखों में सुलाए हुए तड़पती बिजुली—
और आर्द्र वेदना के घन छाए आस-पास !

मेरी चेतना उसी के चिन्तन से प्लावित है युग-युग—
चोट नहीं, वही मेरी जीवनानुभूति है।
खुला ही रहे यह मेरा वातायन वेदना का,
देखता रहूँ मैं सदा अपलक
वह छवि, दीप्तियुक्त--छायामय--
मिटो मत मेरे स्मृति-पटल के तल से—
हटो मत मेरी प्यासी दृष्टि के क्षितिज से--
मेरे एकमात्र संगी चेहरे उदास—
मुझे चाह नहीं अन्य स्निग्ध-स्पर्श सान्त्वना की
तुम्हीं मेरा जीवन-कुहासा भेद उगा हुआ तारा हो !

चरण पर धर चरण

चरण पर धर
सिहरते-से चरण
आज भी मैं इस सुनहले मार्ग पर
पकड़ लेने को पदों से
मृदुल तेरे पद-युगल के अरुण-तल की
छाप वह मृदुतर
जिसे क्षण-भर पूर्व ही निज
लोचनों की उछटती-सी बेकली से
मैं चुका हूँ चूम बारम्बार—
कर रहा हूँ प्रिये, तेरा मैं अनुकरण
मुग्ध, तन्मय—
चरण पर धर
सिहरते-से चरण ।

पार्श्व मेरा—
किन्तु इससे क्या कि मेरे साथ चलता कौन है—
जब कि वह है साथ मेरी यन्त्र-चालित देह के—
और मैं—मेरा परमतम तत्त्व-वलयित
साथ तेरे प्राण के—
जब कि आत्मा यह अनाहत और अक्षत

चरण-तल की छाप के उस कनक-शतदल
कमल से बिछुड़ी अकेली दोल पँखुड़ी में चमकती
लोल जल की बूँद-सा पर-ज्योति-गुम्फित
तद्गत और अतिशः मौन है !

आशीः

[वसन्त के एक दिन]

फूल कांचनार के
प्रतीक मेरे प्यार के
प्रार्थना-सी अर्धस्फुट काँपती रहे कली
पत्तियों का सम्पुट, निवेदिता ज्यों अञ्जली।
आए फिर दिन मनुहार के, दुलार के
फूल कांचनार के!

सुमनवृन्त बावले बबूल के!
झोंके ऋतुराज के वसन्ती दुकूल के—
बूर बिखराता जा पराग अङ्गराग का
दे जा स्पर्श ममता की सिहरती आग का।
आवे मत्त गन्ध वह ढीठ हूल-हूलके—
सुमनवृन्त बावले बबूल के!

कली री पलास की!
टिमटिमाती ज्योति मेरी आस की
या कि शिखा ऊर्ध्वमुखी मेरी दीस प्यास की।
वासना-सी मुखरा, वेदना-सी प्रखरा
दिगन्त में

प्रान्तर में प्रान्त में
खिल उठ, भूल जा, मस्त हो,
फैल जा वनान्त में—
मार्ग मेरे प्रणय का प्रशस्त हो !

वीर-वहूटी

एक दिन देवदारुवन बीच छनी हुई
किरणों के जाल में से साथ तेरे घूमा था—
फेनिल प्रपात पर छाए इन्द्रधनु की
फुहार तले मोर-सा प्रमत्त-मन झूमा था—

बालुका में अँकी-सी रहस्यमयी वीर-वहूटी
पूछती है रव-हीन मखमली स्वर से :
याद है क्या, ओट में वरूँज की प्रथम बार
धन मेरे, मैंने जब ओठ तेरा चूमा था ?

आज मैं पहचानता हूँ—

आज मैं पहचानता हूँ राशियाँ, नक्षत्र,
ग्रहों की गति, कुग्रहों के कुछ उपद्रव भी,
मेखला आकाश की ;
जानता हूँ मापना दिन-मान,
समझता हूँ अयन-विषुवत्,
सूर्य के धब्बे, कलाएँ चन्द्रमा की
गति अखिल इस सौर-मण्डल के विवर्त्तन की—
और इन सबसे परे, मैं सोचता हूँ,
जरा कुछ-कुछ भाँपने-सा भी लगा हूँ
इस गहन ब्रह्माण्ड के अन्तःस्थ विधि का अर्थ—
अर्थ !—रे कितनी निरर्थक—व्यग की मोह-स्वर्णिम
यह यवनिका—

यह चटक, तारों सजा फूहड निलज आकाश—
अर्थ कितना उभर आता था अचानक
अल्पतम भी तारिका की चमक को जब
देखते ही मैं तुरत, निःशब्द तुलना में तुम्हारे
कुछ उनींदे लोचनों की युगल जोड़ी कर लिया
करता कभी था याद !

मुक्त है आकाश

निमिष-भर को सो गया था प्यार का प्रहरी—
उस निमिष में कट गई है कठिन तप की शिंजिनी दुहरी—
सत्य का वह सनसनाता तीर जा पहुँचा हृदय के पार—
खोल दो सब वञ्चना के दुर्ग के ये रुद्ध सिंहद्वार !

एक अन्तिम निमिष-भर के ही लिए कट जाय मायापाश—
एक क्षण-भर वक्ष के सूने कुहर को झनझनाकर
चला जावे झुलसकर भी तप्त अन्तिम मुक्ति का प्रश्वास—
कब तलक यह आत्म-सञ्चय की कृपणता ! यह
घुमड़ता त्रास !
दान कर दो खुले कर से, खुले उर से होम कर दो स्वयं को
समिधा बनाकर !
शून्य होगा, तिमिरमय भी, तुम यही जानो कि अनुक्षण
मुक्त है आकाश !

कृत-बोध

तीन दिन बदली के गए, आज सहसा
खुल-सी गई हैं दो पहाड़ियों की श्रेणियाँ
और बीच के अबाध अन्तराल में
शुभ्र, धौत—
मानो स्फुट अधरों के बीच से प्रकृति के
बिखर गया हो कल-हास्य,
एक क्रीड़ा लोल, अमित लहर-सा—

नाँघकर मानस का शून्य तम
निःसृत हुआ है द्युत
तेरे प्रति मेरे कृत-बोध का प्रकाश—
चेतना की मेखला-सी
जीवनानुभूति की पहाडियों के बीच मेरी
विनत कृतज्ञता
फैल गई खुले आकाश-सी ।

मिट्टी की ईहा

"I said to my soul, Be still, and wait without hope,
for hope
Would be hope of the wrong thing, wait without love, for love
Would be love of the wrong thing There is yet faith
But the faith and the hope and the love are all in the waiting"

—T S Eliot.

सुनो, कैरा, सुनो,

क्या मेरा स्वर तुम तक पहुँचता है ?

सूची

मिट्टी ही ईहा है !

मैंने सुना
और मैंने बार बार स्वीकृति से
अनुमोदन से
और गहरे आग्रह से आवृत्ति की—
'मिट्टी-से निरीह'—
और फिर अवज्ञा से उन्हें रौंदता चला—
जिन्हें, कि मैं मिट्टी-सा निरीह मानता था।

किन्तु
बसन्त के उस अल्हड़ दिन में
एक भिदे हुए, फटे हुए लोंदे के बीच से बढ़कर
अंकुर ने
तुनुककर कहा—
मिट्टी ही ईहा है!

कितना तुच्छ है तुम्हारा अभिमान
जोकि मिट्टी नही हो—
जोकि मिट्टी को रौदते हो
जोकि ईहा को रौदते हो—
क्योंकि मिट्टी ही ईहा है!

किसने देखा चाँद—(१)

किसने देखा चाँद—
किसने, जिसे न दीखा उसमें क्रमशः विकसित
एकमात्र वह स्मित-मुख जो है
अलग-अलग प्रत्येक के लिए
किन्तु अन्ततः है अभिन्न—
है अभिन्न, निष्कम्प, अनिर्वच, अनभिवद्य;
है युगातीत—
एकाकी—
एकमात्र !

सत्य एक है

सत्य एक है
    क्योंकि वह एक ग्रन्थि है
        जिसके सब सूत्र खो गए हैं ।

नन्हीं शिखा

जब
झपक जाती हैं थकी पुलकें
जम्हाई-सी स्फीत लम्बी रात में
सिमटकर भीतर कहीं पर
संचयित कितने न जाने युग-क्षणों की
राग की अनुभूतियों के सार को आकार देकर
मुग्ध मेरी चेतना के द्वार से तब
निःसृत होती है अयानी
एक नन्ही-सी शिखा।

कांपती भी नहीं निद्रा
किन्तु मानों चेतनाऽपर किसी सज्ञा का
अनवरत सूक्ष्मतम स्पन्दन
जता देता है मुझे
नर्तिता अपवर्ग की अप्सरा-सी वह
शिखा मेरा भाल छूती है
नेत्र छूती है—
वक्ष छूती है—

गात्र को परिक्रान्त करके
ठिठक छिन भर
उमग कौतुक से
बोध को ही आँज जाती है किसी
एकान्त अपने
दीप्त रस से।

और तब संकल्प मेरा
द्रवित, आहुत
स्नेह-सा उत्सृष्ट होता है
शिखा के प्रति
धीर, संशय-हीन, चिन्तातीत।

वह चाहे जला डाले।

[यदपि वह तो वासना का धर्म है—
और यह नन्हीं शिखा तो
अनकहा मेरे हृदयका प्यार है!]

बाहु मेरे रुके रहे

बाहु मेरे घेरकर तुमको रुके रहे।

रात की गुञ्जरित स्पन्दनहीनता में
निभृत की उत्कट प्रतीक्षा में
नहीं माँगा भी तुम्हारे प्यार का संकेत

किसी सूनी वाटिका की दूब से आवृत
विस्मृता-सी स्मरण की नीरव उसाँसों के सिरिस-से
परस से भी सिहर सकुचानी,
वीथिका के उभय तट मालञ्च से अवलंबिता,
दो लताओं के प्रलम्बित अंकुरों-से
प्राण दोनों के

व्यर्थ करके शब्द को, शब्दार्थ को, स्वर को.
भूलकर के प्रस्फुटन, विकसन, फलागम—
अहेतुक आश्वासना से
बस, झुके रहे,
बाहु मेरे घेर कर तुमको रुके रहे।

नहीं मुझमें तीव्र कोई अहं की अभिव्यजना जागी।
नहीं चाहे प्राण तुम प्रत्येक स्पन्दन की
बनो बेबस फेन-सी उच्छ्वसित समभागी—

चेतना की दो प्रवाहित पृथक धारों-सी,
जोकि संगम के अनन्तर भी
रंग अपने पृथक रखती हैं,
और जिनके
घुले उलझे परस्पर-वलयित,
द्रवित देहों में
शांति में गति-से, परम कैवल्य में संवेदना-से
भँवर हैं उद्भ्रान्त मँडलाते—

(यदपि आगे फिर बृहत्तर
ऐक्य में दोनों पृथक अस्तित्व होते लीन अनजाने)

हम रहे, झर चलीं बूँदें काल-निर्झर की
उदधि की झंझा प्रताड़ित द्रुत-लहर हमने नहीं माँगी
वासना से, याचना से हम परे थे—
सहज अनुरागी।
नहीं मुझमें अहं की अभिव्यंजना जागी।

नहीं उमड़ा घुमड़ता संक्षुब्ध उर में वासना का
बुदबुदाता ज्वार।

नहीं दूभर हुआ हमको स्वयं अपना दान—
मिलन के अतिरेक का प्रस्वेद-श्लथ संभार!

वक्ष थे संलग्न, पर अस्तित्व के उस
इन्द्रधनु के छोर

नहीं करना चाहते थे
निरे मानव जीव की शत-फण बुभुक्षा के
कुलाहल का आस्फालन;
इस कुहर में नहीं गूँजी
अलग हृदयों की अनुक्षण तीव्रतर होती हुई धड़कन—

आत्मलय के रुद्र ताण्डव का प्रमाथी
तप्त आवाहन;
क्योंकि दोनों चल रहे थे एक ही समताल की गति पर।

—चिर-अनातुर, चिर-अचंचल, महद्गति, बेरोक
काल के युग-चरण की शाश्वत-प्रवाही चाप सहसा
रणरणित कर गई दुहरी
पृथक्ता द्वारा घनावृत ऐक्य को।

(देव-दम्पति के परस्पर-पार्श्ववर्ती मन्दिरों के शिखर की ज्यों
युगल-कलशों को कँपाता गूँजता हो—
अगुरु धूमिल आरती का नाद !

—एवमेव
शमन में जीवन जगा, धृति को चिरन्तर गति बनाकर
स्तब्ध-स्वर बोला हमारा प्यार—

नहीं उमड़ा वासना का ज्वार !

शाली

नभ में सन्ध्या की अरुणाली,
भू पर लहराती हरियाली,
है अलस पवन से खेल रही—
भादों की मान भरी शाली:

 री किस उछाह से झूम उठी
तेरी लोलक-लट घुँघराली

झुककर नरसल ने सरसी में
अपनी लघु वंशी धो ली,
झिल्ली के प्लुत एक स्वर में
सस्मृति की साँय साँय बोली—

किस दूरी से आहूत, अवश,
उड़ चली विहंगों की टोली ?

किस तरल धूम से भर आईं
तेरी आँखें काली काली ?

पानी बरसा !

ओ पिया, पानी बरसा !
ओ पिया, पानी बरसा !

घास हरी हुलसानी
मानिक के झूमर-सी
झूमी मधु-मालती
झर पड़े जीते पीत अमलतास
चातकी की वेदना बिरानी।
बादलों का हाशिया है आसपास--
बीच कूँजों की डार, कि
लिखी पाँत काली बिजली की
असाढ़ की निशानी !
ओ पिया, पानी !
मेरा जिया हरसा
ओ पिया, पानी बरसा !

खड़खड़ कर उठे पात
फड़क उठे गात।
देखने को आँखें
घेरने को बाँहें

पुरानी कहानी ?
ओठ को ओठ, वक्ष को वक्ष—
ओ पिया, पानी !

मेरा हिया तरसा ।
ओ पिया, पानी बरसा !

हिमन्ती बयार

१

हवा हिमन्ती सन्नाती है भीड़ में
सहमे पंछी चिहुँक उठे हैं नीड़ में

दरद गीत में रुँधा रहा
वह निकला गलकर मींड़ में
मेरे अन्तर में
पर मैं खोया हूँ भीड़ में !

२

सिहर-सिहर झरते पत्ते पतझार के
तिर चले कहाँ पंखों पर चढ़े बयार के
ले अन्ध-वेग नौका ज्यों बिन पतवार के !

जीवन है कच्चा सूत—रहूँ मैं
उब-डूब सागर में तेरे प्यार में !

प्रिया के हित गीत

दृश्य लखकर प्राण बोले
'गीत लिख दे प्रिया के हित !'
समर्थन में पुलक बोली
'प्रिया तो सम-भागिनी ह
साथ तेरे दुखित--नदित !'

लगा गढ़ने शब्द—सहसा वायु का झोंका
तुनककर बोला, 'प्रिया मुझमें नहीं है ?'
नदी की द्रुत लहर ने टोका—
'किरन-द्रव मेरे हृदय में स्मित उसी की बस रही है !'
शरद की बदली इकहरी शिथिल अँगराई
भर, तनिक-सी ओर झुक आई—
'नहीं क्या उसकी लुनाई
इस लचीली मसृण-मृदु आकार रेखा में वही है ?'

सिहरकर तरु-पात भी बोले वनाली के
आक्षितिज उन्मुक्त लहरे खत शाली के
'आत्मलय के, बोध के, इस परम-रस से पार
ग्रन्थि मानो रूप की, स्वालम्ब, बिन आधार,
अलग प्रिय, एकान्त कुछ कोई कहीं है ?
प्रिया तो है भावना, वह है यहीं है, रे, यहीं ह !'

रह गया मैं मौन, अवनत-माथ
एकलय उन सबोंसे, उस दृश्य से अभिभूत,
प्रिये, तुझको भूलकर एकान्त, अन्तःपूत,
क्योंकि एक प्राण तेरे साथ !

माघ-फागुन-चैत

अभी माघ भी चुका नही
पर मधु का गरवीला अगवैया
　　　　　कर उन्नत शिर
अँगराई लेकर उठा जाग
भरकर उर में ललकार—
भाल पर धरे फाग की लाल आग।
धूल बन गई नदी कनक की
　　　　　लोट-पोट न्हाती गौरैया
फूल-फूलकर साथ-साथ जुर
　　　　　ढीठ हो गए चिरी-चिरैया।

आया हचकोला फाग का
खग लगे परखने नये-नये सुर—
　　　　　अपने-अपने राग का
(बिसरा कर सुध, कल बन जाएगा
　　　　　यही बगूला आग का !)
'बिगड़ी बयार को ले जाने दो
सूखे पीले पात पुरानी चैत के !

इठलाती आई फुनगी,
पावस में डोल उठी हरखाई नैया—
दिन बदला उनका, अब है काल खेवैया !'

सहसा झरा फूल सेमर का
गरिमा-गरिम, अकेला, पहला,
क्या टूट चला सपना बसन्त का
चौबारा, चौमहला
लाल-रुपहला ?
झर झर झर लग गई झड़ी-सी
टहनी पर बस टँगी रह गई अर्थहीन उखड़ी-सी
टुच्ची बुच्ची ढोंड़ियाँ लँढूरी
पर-खोंसे झुलसे पाखी-सी
खिसियाए मुँह बाए !
पहले ही सकुची-सिमटी
दब गई पराजय के बोझे से लद
किसान की झुकी मचैया !

क्रमशः आए
दिन चैती . सौगात नयी क्या लाए ?
बाल बिखेरे, अपना रूखा सिर धुनती
(नाचे ता-थैया !)
बेचारी हर-झोंके-मारी, विरस अकिञ्चन
सेमर की बुढिया मैया !

आषाढस्य प्रथमदिवसे—

घन अकास में दीखा।

चार दिनों के बाद
वह आएगी
मुझ पर छा जाएगी
सूखी रेतीली धमनी में
फिर रस-धारा लहराएगी
वह आएगी—
मैं सूखा फैलाव रेत का
(वह आएगी—)
मेरी कनी कनी सिंच जाएगी
वह आएगी
ठण्ढ पड़ेगी जी को
आसरा मिलेगा ही को
नये अयाने बादल में मैं इकटक देख रहा हूँ पी को
वह आएगी !

वह आएगी—
पहले बारे बादल-सी छरहरी अयानी
लाज-लजी, अनजानी
फिर मानो पहचान, जान
यह सब कुछ उसका ही है

घहराते उद्दाम हठीले

यौवन से इठलाती

खुले बन्द, खिले अङ्ग,

बेकल, सब-चोरन, मदमाती

वह आएगी—

लालसा का लाल,

जय का लिए उजला रङ्ग

वह आएगी

मेरा ढाँप लेगी नङ्ग

अपनी देह से

बहते स्नेह से

अभी सूखी रेत हूँ पर

हो जाऊँगा हरा

गति-जीवित भरा

बालू धारा बन जायेगी——

धारा आनी-जानी है

पर मेरी तो वह नस-नस की पहचानी है——

वह आएगी

खिंच जाएगी

हिमगिरि से आसमुद्र

बाँकी किन्तु अचूक एक जीवन की रेखा—

जीवन बहता पानी है
इन टूटे हुए कगारों में
फिर जीती इन धारों की
लम्बी बे-अन्त कहानी है—
मैंने घन अकास में देखा
परिचय का पहला निशान
चेता, हरा हो गया सूखा
ज्ञान !
मैंने लिया पहचान
वह आएगी !

किसने देखा चाँद—२

किसने देखा चाँद
जिसने
उसे न चीन्हा एक अकेली आँखें,
अकेला एक अनझरा आँसू
जीवन के इकलौते अपने दु:ख का
बँधी चिरन्तन आयासों से,
खुली अजाने अनायास
सीपी के भीतर का अनगढ़ मोती ?

सीपी-वासी जीव, न जाने जीवित है या
स्वयं जीव की सूनी सीपी !
किन्तु नहीं सन्देह कि मोती उसकी मर्म व्यथा
का फल है—
उजली सूनी सीपी
चाँद न जिसने चीन्हा
किसने देखा चाँद !

शून्य की पूर्णता

१

तुम दीवार हो
मैं वातायन,
मैं तुम्हारे द्वारा सीमांकित
केवल एक शून्य हूँ।
किन्तु
मेरी सिद्धि उस प्राण-वायु में है
जो निरन्तर उसमें से होकर बहता है।

२

काठ ने मंजूषा से कहा,
मेरे बिना तू क्या है?
निरा एक खोखल!
तभी स्वामी ने मंजूषा के भीतर के शून्य में
सोने की मुद्रा रख दी।

जागर

पूर्णिमा की चाँदनी
सोने नहीं देती।

चेतना अन्तर्मुखी स्मृति-लीन होती है—
देह भी पर सजग है—
खोने नहीं देती।

निशा के उर में बसे आलोक-सी है व्यथा व्यापी—
प्यार में अभिमान की पर कसक ही
रोने नहीं देती।

पूर्णिमा की चाँदनी
सोने नहीं देती।

कल की निशि

मिथ, कल मिथ्या—
कल की निशि घनसार तमिस्रा
और अकेली होगी—
स्मृति की सूखी स्रजा रुआँसी
एक सहेली होगी।

चरम द्वन्द्व—आत्मा निस्सम्बल,
अरि गोपित, मायावी—
प्यार? प्यार! अस्तित्व मात्र
अनबूझ पहेली होगी!

एक दर्शन

माँगा नहीं, यदपि पहचाना
पाया कभी न, केवल जाना
परिचिति को अपनाया माना।

दीवाना ही सही, कठिन है अपना तर्क तुम्हें समझाना—
इह मेरा है पूर्ण, तदुत्तर
परलोकों का कौन ठिकाना !

प्रतीक्षा

नया उगा चाँद बारस का
लजीली चाँदनी लम्बी
थकी सँकरी सूखती दीर्घा

चाँदनी में धूल-धवला बिछी लम्बी राह
तीन लम्बे ताल जिनके पार के लम्बे कुहासे को
चीरती, ज्यों वेदना का तीर, लम्बी टटीरी की आह

उमड़ती लम्बी शिखा-सी, यती-सी धूनी रमाए
जागती है युगावधि से सँची लम्बी चाह
और जाने कौन-सी निर्व्यास दूरी लीलने दौड़ी
स्वयं मेरी निलज लम्बी बाँह !

साधना और सिद्धि

तुम क्यों रात की केवल दो आँखें देखते हो—
जब कि रात की आँखें असंख्य हैं?

दिन का तुम्हें एक ही चेहरा क्यों दीखता है—
जब कि दिन के चेहरे असंख्य हैं?

माने हुए को सच जानना साधना हो सकती है,
पर जाने हुए को सच मानना सिद्धि है।

स्वर

तुम बोलते थे, तब तो मैं मुग्ध था
अब तुम चुप हो गए हो, तो मैं जागकर
तुम्हारा स्वर सुनने लगा हूँ!

देख क्षितिज पर भरा चाँद

देख क्षितिज पर भरा चाँद
मन उमगा, मैंने भुजा बढ़ाई।

हम दोनों के अन्तराल में
कमी नहीं कुछ दी दिखलाई,

किन्तु उधर, प्रतिकूल दिशा में
उसी भुजा की आलम्बित परछाईं
अनायास बढ़, लील धरा को,
क्षिति की सीमा तक जा छाई!

सूत्र

समानान्तर सूत्रों से बुनाई नहीं हो सकती---
जीवन का पट बुनने के लिए आवश्यक है कि
बहुत-से सूत्र आड़े पड़ें।

जन्म-दिवस

मैं मरूँगा सुखी
क्योंकि तुमने जो जीवन दिया था—
[पिता कहलाते हो तो
जीवन के तत्त्व पाँच
चाहे जैसे पुञ्ज-बद्ध हुए हों,
श्रेय तो तुम्हीं को होगा—]
उससे मैं निर्विकल्प खेला हूँ—
खुले हाथों उसे मैंने वारा है—
धज्जियाँ उड़ाई हैं

तुम बड़े दाता हो

तुम्हारी देन
मैंने नहीं सूम-सी सँजोई
मैंने नहीं जोड़ा कुछ
थोड़ा भी
पाँच ही थे तत्त्व मेरी गूदड़ी में
मैंने नहीं माना उन्हें लाल—
चाहे यह जीवन का वरदान
तुम नहीं देते बार-बार—
[अरे
मानव की योनि !
परम सजोग है !]

किन्तु जब आए काल—
लोलुप विवर-सा प्रलम्ब-कर
खुली पाए प्राणों की मंजूषा—
जाएँ
पाचों प्राण शून्य में बिखर—

मैं भी दाता हूँ—
विसर्ग महाप्राण है।
मै मरूँगा सुखी।

किन्तु नहीं धो रहा मै पाटियाँ आभार की।

उनके समक्ष,
दिया जिन्होंने बहुत कुछ, किन्तु जो
अपने को दाता नहीं मानते——
नही जानते :
अमुखर नारियाँ,
धूल-भरे शिशु,
खग,
ओस-नमे फूल,
गन्ध
मिट्टी पर पहले असाढ के अयाने वारि-बिन्दु की,
कोटरों से झाँकती गिलहरी,
स्तब्ध, लय-बद्ध भौरा
टँका-सा अधर में,

चाँदनी से बसा हुआ कुहरा,
पीली धूप शारदीय प्रात की,
बाजरे के खेतों को फलांगती
डार हिरनों की बरसात में—

नत हूँ मैं
सबके समक्ष बार-बार मैं विनीत-स्वर
ऋण-स्वीकारी हूँ—
विनत हूँ।

मैं मरूँगा सुखी
मैंने जीवन की धज्जियाँ उड़ाई हैं!

समाधि-लेख

१

रहा अज्ञ, निज को कहा अज्ञेय
हुआ विज्ञ, सो यह रहा अज्ञेय !

२

आँखों में—चिर प्रेय
हाथों को—जो श्रेय
आत्मा में—कुछ गेय
मिट्टी को—अज्ञेय !

३

आजीवन चलता रहा प्रेय के साथ-साथ
निष्ठा-पूर्वक लग रहा ध्येय के पीछे।
था श्रेय-भावना से ऊपर रहने का इच्छुक ;
ज्ञापित हो, है अज्ञेय धरा के नीचे।

४

इतना और मुझे कहना है
अब मुझको चुप ही रहना है

५

पाँच हैं तत्त्व
पाँच हैं प्राण
अगिन रज-कण अज्ञेय
एक है ज्ञान !

अनुक्रमणिका

[प्रथम पंक्तियों की तालिका]